नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण]

वर्ष ४९, अंक १—४
संवत् २००१
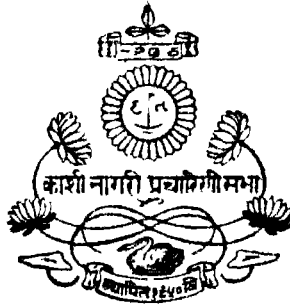
संपादक

वासुदेवशरण अग्रवाल

संवत् २००१
काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
मूल्य १०)

निवेदन

(१)

विक्रमांक का यह उत्तरार्द्ध, संवत् २००१ के चारों अंकों के समुच्चय के रूप में सभासदों के सेवार्पित है। विचार था कि उत्तरार्द्ध में भी पूर्वार्द्ध जितनी ही वाचन-सामग्री दी जाय, पर सरकारी प्रतिबंध के कारण वैसा नहीं हो सका। सभा ने सरकार से अनुरोध किया था कि केवल विक्रमांक का यह उत्तरार्द्ध ही प्रतिबंध-मुक्त कर दिया जाय जिससे संपूर्ण संपादित सामग्री इसी अंक में दे दी जाय; परंतु खेद है कि पत्राचार में विलंब भी हुआ और अनुमति भी नहीं मिल सकी। आशा है, सभासद्गण विवशता के लिये क्षमा करेंगे। शेष सामग्री अगले अंकों में दी जायगी।

रामनारायण मिश्र
प्रधान मंत्री

---

(२)

विक्रमांक के लिये लगभग पाँच सौ पृष्ठों की सामग्री एकत्र की गई थी। अनेक लेखक महानुभावों ने मेरा अनुरोध मानकर लेख भेजने की कृपा की थी। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। विचार यह था कि गत दो सहस्र वर्षों में भारतीय संस्कृति का विविध क्षेत्रों में जो विकास हुआ है उसका संपूर्ण चित्र एक ही सुंदर अंक में प्रस्तुत किया जाय। परन्तु यह योजना सर्वांश में पूरी न हो सकी और प्रकाशन की कठिनाइयों से विवश होकर विक्रमांक के कई खंड करने पड़े। फिर भी कुछ लेख, विशेषत: वे जिनका संबंध भाषा-विज्ञान और हिंदी-साहित्य के इतिहास से था, छपने से रह गए। इसके लिये मैं लेखक महानुभावों से सविनय क्षमा चाहता हूँ। अवशिष्ट लेख-सामग्री नए संपादक श्री प्रो॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम॰ ए॰, हिंदी-विभाग, काशी-हिंदू विश्वविद्यालय के पास भेज दी गई है जो क्रमशः प्रकाशित होगी।

वासुदेवशरण
संपादक

विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रचारक
कुछ बौद्ध विद्वान्

[लेखक—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०]

भारतीयों ने ज्ञान-विज्ञान के सर्वतोमुख प्रसार में जो महान् विक्रम किया उसमें बौद्धों का भी हाथ रहा है। इसका श्रेय बौद्ध मतानुयायियों को ही है कि उन्होंने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की भावना को बहुत प्राचीन काल से चरितार्थ करना प्रारंभ किया। इतिहास में हम प्रामाणिक रूप में सबसे पहले बौद्ध-भिक्षुओं को ही देशांतरों में भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिये प्रयाण करते हुए पाते हैं। शाक्यमुनि के उपदेशों का सुदूर देशों में प्रचार करने, बौद्ध ग्रंथों का उन देशों की भाषाओं में अनुवाद करने, बर्बर तथा असभ्य जातियों को भी सभ्य और संस्कृत बनाने का जो अथक परिश्रम इन बौद्ध विद्वानों और विदुषियों ने किया वह वास्तव में सराहनीय है। सुवर्ण-भूमि (बर्मा), सिंहल (लंका), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), चीन, तिब्बत, कोरिया और जापान आदि में तथा पश्चिमी जगत् में भिक्खुओं और भिक्खुनियों ने अपने अदम्य उत्साह और प्रभूत उद्योग से भारतीय संस्कृति के प्रसार का सफल प्रयत्न किया। यहाँ कुछ ऐसे प्रमुख बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया जाता है जो इस कार्य के लिये भारत से बाहर भिन्न भिन्न देशों को गए।

१—**महारक्षित**—सम्राट् अशोक सबसे पहला भारतीय शासक था जिसने अनेक धर्मप्रचारक-मंडलियाँ बनाकर विभिन्न देशों में भेजीं। महारक्षित यूनानी जगत् में जानेवाली मंडली के नेता बनकर गए। इनका समय लगभग १९३ वि० पू० (२५० ई० पू०) है।

२—**मध्यम**—ये अशोक के द्वारा लगभग इसी समय बौद्धधर्म के प्रचार के लिये भेजी हुई मंडली का नेतृत्व ग्रहण कर हिमालय के प्रदेशों में गए।

३—शोण, ४—उत्तर—ये दोनों भिक्षु सुवर्णभूमि (आधुनिक पेगू, मौलमीन) में उपर्युक्त उद्देश्य से गए।

५—महेंद्र—बौद्धग्रंथों के अनुसार ये अशोक के पुत्र थे। इन्होंने सिंहल (लंका) में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया।

६—संघमित्रा—यह सम्राट् अशोक की पुत्री थी। इसने सिंहल की स्त्रियों को उपदेश देकर उन्हें भिक्षुणी बनाया।

७—अर्हत् वैरोचन—लगभग वि० सं० ४ (ई० पू० ५३) में ये सबसे पहले खोतन गए और वहाँ बौद्धधर्म का प्रचार किया।

८—काश्यप मातंग—ये गांधार के रहनेवाले थे। १२२ सं० (६५ ई०) में चीन के सम्राट् मिंग-ती के निमंत्रण पर ये सबसे पहले चीन गए; वहाँ इन्होंने अनेक बौद्धग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

९—धर्मरत्न—ये भी गांधार-निवासी थे। लगभग १२६ सं० (६९ ई०) में ये चीन गए। काश्यप मातंग के साथ इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१०—स्थविर चिलुकाक्ष—समय सं० २०४—२४३ (ई० १४७—१८६)। १४७ ई० में ये चीन गए। वहाँ २५ वर्ष रहकर इन्होंने २३ बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

११—आर्यकाल—सं० २०५—२३७ (१४८ से १८० ई०)। १४८ ई० में चीन जाकर वहाँ २२ वर्ष तक रहकर इन्होंने १७६ ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१२—मंत्रसिद्ध—लगभग २८२ सं० (२२५ ई०) में खोतन में जाकर इन्होंने बौद्धधर्म का प्रचार किया।

१३—विघ्न—लगभग २५७—३०७ वि० (२००—२५० ई०)। ये २२४ ई० में चीन गए और वहाँ इन्होंने सर्वप्रथम 'धम्मपद' का अनुवाद किया।

१४—धर्मकाल—३०७ वि० (२५० ई०)। ये मध्यभारत के रहनेवाले थे। चीन जाकर इन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य किया। वि० ३०७

(२५० ई०) में इन्होंने प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ 'पातिमोक्ख' का चीनी में अनुवाद किया।

१५—धर्मरक्ष—सं० २९७—३७५ (२४०—३१८ ई०)। ये २६६ ई० में चीन गए। इनकी प्रकांड विद्वत्ता का परिचय इसी से लगता है कि ये ३६ भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने चीन में धर्म तथा विद्या के प्रचार में श्लाघनीय कार्य किया। २१० बौद्धग्रंथों का इनके द्वारा चीनी भाषा में अनुवाद किया गया।

१६—धर्मप्रिय—सं० ४३९ (३८२ ई०)। चीन जाकर इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया, और शिक्षण-कार्य किया। 'दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' का चीनी में अनुवाद मुख्य है।

१७—कुमारजीव—सं० ४१२—४७७ (३५५—४२० ई०)। ये चीन में जानेवाले प्रख्यात भारतीय पंडित हैं। ४०१ ई० में चीन जाकर इन्होंने अनुवाद की नई प्रणाली निकाली, जो पहले की प्रणाली से विशिष्ट थी। १२ वर्षों में इसी शैली में इन्होंने 'वज्रच्छेदिका' आदि ग्रंथों, अश्वघोष तथा नागार्जुन आदि विद्वानों के महान् ग्रंथों का अनुवाद किया। इन अनुवादित ग्रंथों की संख्या लगभग १०० है। इन सबका अनुवाद मौलिक रचना जैसा जान पड़ता है। कुमारजीव ने चीन आदि देशों में महायान का प्रचार बड़ी तत्परता से किया।

१८—पुण्यतर—सं० ४६१ (४०४ ई०)। कुमारजीव के साथ इन्होंने बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया। ये मध्य एशिया भी गए और वहाँ धर्म-प्रचार का कार्य किया। ये उस समय की मध्य एशिया की प्रायः सभी भाषाएँ जानते थे।

१९—गुणवर्मन्—सं० ४२४—४८८ (३६७—४३१ ई०)। ये काश्मीर के रहनेवाले थे। इन्होंने पहले सिंहल जाकर वहाँ संस्कृत का प्रचार किया। ४२३ ई० में ये यवद्वीप (जावा) गए और वहाँ से कुछ समय पश्चात् चीन पहुँचे। कुमारजीव की तरह इनकी भी प्रसिद्धि बहुत है। इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया और चीन में शिक्षण का कार्य विशेष रूप से

किया। वहाँ पर इनके उपदेशों से प्रभावित होकर जनता ने बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म को अपनाया।

२०—**बुद्धघोष**—लगभग सं० ४२२-४७७ (३६५-४२० ई०)। सिंहल तथा चीन में जाकर इन्होंने बौद्ध धर्म का बड़ी लगन से प्रचार किया। इनके अनुवादित विशुद्धिमग्ग, पट्टचूड़ामणि आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

२१—**गुणभद्र**—सं० ४२४ से ४८८ (३६७-४३१ ई०)। ये मध्य-भारत के रहनेवाले थे। चीन जाकर इन्होंने ७८ संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

२२—**धर्मजातयशस्**—सं० ५३८ (४८१ ई०)। ये भी मध्यभारत के थे। ४८१ ई० में चीन जाकर इन्होंने 'अमृतार्थसूत्र' का चीनी में अनुवाद किया।

२३—**बुद्धशांत**—सं० ५८२ (५२५ ई०)। इन्होंने चीन में जाकर शिक्षणकार्य के साथ दस ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

२४—**परमार्थ**—सं० ५९६ (५३९ ई०)। ये बौद्ध-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे। चीन के प्राचीन साहित्य में इनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा की गई है। इन्होंने योगाचार संप्रदाय का चीन में प्रचार किया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् असंग तथा वसुबंधु के ग्रंथों पर इन्होंने विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं।

२५—**पंडित होदो**—लगभग सं० ६०७ (५५० ई०)। यह एक भारतीय पंडित का जापानी नाम है जो जापान के प्राचीन साहित्य में मिलता है। होदो के जापान में जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार करने का वर्णन मिलता है। ये सबसे पहले भारतीय मिलते हैं जो जापान में धर्म-प्रचारार्थ गए। इसी काल से वहाँ के स्त्री-पुरुष बौद्ध-धर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुए और धीरे धीरे वहाँ शाक्यमुनि का धर्म अच्छी तरह से जम गया।

२६—**पुण्योपाय**—सं० ७१२ (६५५ ई०)। ये मध्यभारत के थे। ६५५ ई० में बौद्ध धर्म के १५०० से अधिक ग्रंथ लेकर ये चीन गए। इनमें महायान और हीनयान दोनों संप्रदायों के ग्रंथ थे।

२७—शांतरक्षित—सं० ७४७-८३७ (६९०-७८० ई०) । ये तिब्बत में जानेवाले सर्वप्रथम भारतीय विद्वान् थे। अपने प्रकांड पांडित्य तथा प्रभूत उत्साह के द्वारा इन्होंने तिब्बत की असभ्य जातियों में भी सभ्यता का बीज आरोपित किया। भोटों में बौद्ध-धर्म-प्रसार के श्रीगणेश का श्रेय इन्हीं को है। इन्होंने अनुवाद के अतिरिक्त 'तत्त्वसंग्रह' आदि मौलिक दार्शनिक ग्रंथ लिखे।

२८—अमोघवज्र—सं० ७७६ (७१९ ई०)। चीन जाकर इन्होंने ७७ बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। इनमें ४१ तंत्र-ग्रंथ थे।

२९—पद्मसंभव—सं० ८०४ (७४७ ई०)। इन्होंने तिब्बत जाकर वहाँ बौद्ध तांत्रिक धर्म का प्रसार किया।

३०—बुद्धसेन—सं० ७९३ (७३६ ई०)। इन्होंने २४ वर्ष तक जापान में घोर परिश्रम से धर्म-प्रचार का कार्य किया। इसके लिये कुछ दिन तक ये खोतन में भी रहे।

३१—प्रज्ञ—सं० ८३९ (७८२ ई०)। ७८२ ई० में चीन जाकर इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

३२—जिनमित्र—लगभग सं० ८५७ (८०० ई०)। इन्होंने तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। ये काश्मीर के रहनेवाले थे।

३३—धर्मदेव—सं० ९९७-१०५८ (९४०-१००१ ई०)। २८ वर्षों तक चीन में रहकर इन्होंने ४६ ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

३४—दीपंकर श्रीज्ञान—सं० १०३९-११११ (९८२-१०५४ ई०)। तिब्बत में १०४२ से ११०२ ई० तक का साहित्य-काल 'दीपंकर-युग' के नाम से प्रख्यात है। ये पहले विक्रमशिला महाविद्यालय के महापंडित थे। तिब्बत के राजभिक्षु ज्ञानप्रभ के कई निमंत्रणों से बाध्य होकर ये तिब्बत गए। इन्होंने जीवन का अंतिम समय कठोर परिश्रम से धार्मिक सुधार और ग्रंथानुवाद के कार्यों में बिताया। इनके अनुवादित तथा संशोधित ग्रंथों की संख्या कई सौ है।

३५—सोमनाथ—सं० १०८४ (१०२७ ई०)। इन्होंने तिब्बत जाकर ज्योतिष ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद किया।

३६—शांतिभद्र—मृत्यु सं० १०९८ (१०४१ ई०)। इन्होंने तिब्बत जाकर बौद्ध साहित्य के प्रचार में बड़ा उद्योग किया।

३७—पंडित गयाधर—लगभग सं० ११३२ (१०७५ ई०)। ५ वर्षों तक तिब्बत में रहकर इन्होंने तंत्र-ग्रंथों का भोट में अनुवाद किया।

३८—विभूतिचंद्र—सं० १२६१ (१२०४ ई०)। इन्होंने तिब्बत में कई वर्ष अध्यापन-कार्य किया और वहाँ एक बौद्ध विद्यालय की स्थापना की। अपने बनाए हुए ग्रंथों का इन्होने भोट में अनुवाद किया।

३९—सुनयश्री—लगभग सं० १२६७ (१२१० ई०)। तत्कालीन चीन-सम्राट् के निमंत्रण पर ये चीन गए और वहाँ अनेक क्लिष्ट ग्रंथों के अनुवाद किए।

४०—शाक्य श्रीभद्र—सं० ११८४-१२८२ (११२७-१२२५ ई०)। ये काश्मीर के रहनेवाले थे। इन्होंने तिब्बत जाकर बौद्धन्याय का विशेष रूप से अध्यापन किया।

४१—संघराज—सं० १२७३-१३०८ (१२१६-५१ ई०)। इन्होंने बौद्ध-धर्म-प्रचार का भगीरथ प्रयत्न किया; विशेष कर भोट और मंगोल देश में। इनकी लिखी नीति-शिक्षा-पूर्ण गाथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

४२—सकर-म-गक्-सि-छोऽजिन्—सं० १२६१ से १३४० (१२०४-८३ ई०)। इन भारतीय पंडित का यही चीनी नाम मिलता है। ये प्रमुख बौद्ध सिद्ध थे। मंगोल-सम्राट् मुन्खे ने १२५६ ई० में इन्हें अपना गुरु बनाया।

४३—रिन्-छेन्-ग्रुब—सं० १३४७-१४२१ (१२९०-१३६४ ई०)। ये उद्भट भारतीय विद्वान् थे। अनुवाद-कार्य के अतिरिक्त इनका अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य यह था कि इन्होंने अपने समय तक के सभी अनुवादित भोट भाषा के ग्रंथों को एकत्र कर उन्हें दो बड़ी जिल्दों में संगृहीत किया। स्वयं भी इन्होंने बीसियों मौलिक ग्रंथ लिखे।

४४—सुमतिकीर्ति (चोङ्-ख-प) सं० १४१४ से १४७६ (१३५७-१४१९ ई०)। तिब्बत में १३५६ से १६६४ तक का दीर्घ साहित्यिक काल 'चोङ्-ख-प' युग के नाम से प्रसिद्ध है। सुमतिकीर्ति ने तिब्बत में कठोर परिश्रम से बौद्धधर्म की बहुत सी बुराइयों को दूर किया। इनके द्वारा वहाँ किया हुआ विद्या-प्रचार का कार्य बहुत सराहनीय है। तिब्बत में इन्होंने महाविद्यालय तथा अनेक महाविहारों की स्थापना की। इनके शिष्यों ने महाविहार-स्थापना का कार्य वर्षों तक जारी रखा।

४५—पंडित वनरत्न -सं० १४४१ से १५२५ (१३८४-१४६८ ई०)। ये भोट जानेवाले अंतिम प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु थे। १४५३ ई० में इन्होंने वहाँ जाकर अनुवाद और धर्म-प्रचार का कार्य किया। वहाँ के राजा रब्-ब्तन के निमंत्रण पर ये दूसरी बार तिब्बत गए। इन्होंने विशेषतया तांत्रिक ग्रंथों और सिद्धों के गीतों के अनुवाद किए हैं।
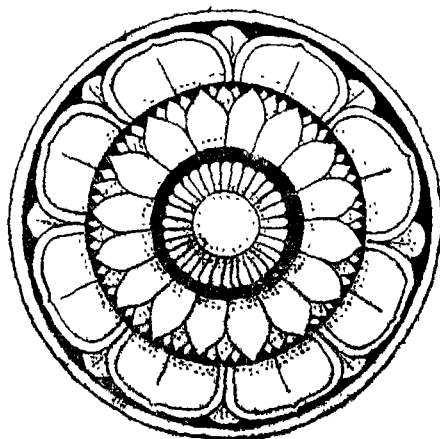
प्रसिद्ध चीनी यात्री युअन च्वांग का पत्र-व्यवहार

निम्नलिखित मूल पत्र और उत्तर संस्कृत में थे। उनका चीनी अनुवाद चीन देश के संस्कृत बौद्ध त्रिपिटक में सुरक्षित बच गया है।

पत्र

'भगवान् बुद्ध के वज्रासन के समीप (बोध गया में) निर्मित महाबोधि मंदिर के स्थविर प्रज्ञादेव अपनी विद्वन्मंडली के साथ महाचीन देश के मोक्षाचार्य (युअन च्वांग) की सेवा में जिन्होंने सूत्र, विनय और अनेक शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया है, यह पत्र भेजते हैं और सादर प्रार्थना करते हैं कि वे रोग और कषायों से सदा मुक्त हों।

मैं—भिक्षु प्रज्ञादेव ने बुद्ध के दिव्य अवतारों पर एक काव्य बनाया है और सूत्र और शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन भी ग्रन्थ रूप में रचा है। उसे भिक्षु फ-छङ् के हाथों आपके पास भेजता हूँ। आचार्य (युअन च्वांग) के अनेक मित्र यहाँ हैं। उनमें भदन्त ज्ञानप्रभ विशेष रूप से आपकी कुशल क्षेम पूछने में मेरे साथ हैं। उपासक लोग सदा आपको नमस्कार भेजते हैं। आपकी सेवा में एक धौतवस्त्र युगल भी भेज रहे हैं—अपने स्नेह की साक्षी के लिये कि हम आपको भूले नहीं हैं। उपहार के अल्पीयस् भाव पर ध्यान न देकर कृपया उसे स्वीकार करें। जिन सूत्रों और शास्त्र ग्रन्थों की आपको आवश्यकता हो उनकी सूची भेजने की कृपा करें। हम उनकी प्रतिलिपि करके सेवा में भेज देंगे।'

युअन च्वांग का उत्तर

'भारतवर्ष से हाल में लौटे हुए एक वाहक के द्वारा मुझे ज्ञात हुआ है कि महापंडित शीलभद्र का शरीर पूरा हो गया। इस समाचार से मुझे असीम शोक हुआ। जो सूत्र और शास्त्र मैं अपने साथ लाया था उनमें से योगाचार भूमि शास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों का तीस जिल्दों में मैं अनुवाद कर चुका हूँ। सविनय विदित हो कि सिन्धु नदी पार करते समय साथ में लाए हुए धार्मिक ग्रन्थों की एक गठरी नदी में बह गई थी। इस पत्र के साथ उन ग्रन्थों की एक सूची नत्थी है। यदि आपको अवसर मिले तो कृपया उन ग्रन्थों को भेजिएगा। मैं अपनी ओर से कुछ छोटी वस्तुएँ उपहार में भेज रहा हूँ। कृपया उन्हें स्वीकार करें।'

(डा० प्रबोधचंद्र बागची रचित 'इंडया ऐंड चाइना' पुस्तक से, पृ० ८०-८१)

सुवर्णद्वीप के शैलेंद्र सम्राट् और नालंदा

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

सुवर्णद्वीप (आधुनिक सुमात्रा) और यवद्वीप (जावा) प्राचीन काल में भारतवर्ष की धर्म-विजय के अंतर्गत थे। आठवीं शताब्दि से वहाँ शैलेंद्र-वंश का राज्य हुआ। इस वंश के राजा भारतवर्ष से बराबर संबंध रखते रहे। संस्कृत उनकी राजभाषा थी। शैलेंद्रराज मारविजयोत्तुंगवर्मा ने भारत-वर्ष में एक विहार बनवाया था, जिसके लिये राजराज चोल ने भूमि दान में दी थी। तंजोर शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके पुत्र राजेंद्र चोल ने भी उस दानपट्ट का समर्थन किया था। एक दूसरे शैलेंद्र सम्राट् बालपुत्र-देव ने नवीं शताब्दि में नालंदा-विश्वविद्यालय में एक विहार बनवाया था और उसके चातुर्दिश आर्यभिक्षुसंघ के उपभोग के लिये पाँच गाँव दान में दिए थे। सुवर्णद्वीप के राजा ने इस कार्य के लिये मगध के सम्राट् देवपालदेव के पास अपना दूतक और उसके द्वारा उचित धन भेजकर नालंदा-विश्वविद्या-लय के लिये पाँच गाँवों के शासन-पट्ट दिए जाने का प्रबंध किया था। बाल-पुत्रदेव की माता का नाम तारा था, जो यवभूमि के सोमवंशी शासक धर्मसेतु की कन्या थीं। यह ताम्रपट्ट भारतीय सम्राट् देवपालदेव ने मुद्गगिरि (मुँगेर) के जयस्कंधावार (छावनी) से जारी किया था। सौभाग्य से वह नालंदा-विश्वविद्यालय में अभी तक सुरक्षित बच गया है। यह ताम्रपट्ट भारत और बृहत्तर भारत के दीर्घकालीन घनिष्ठ संबंध का सूचक है। लेख में ६६ पंक्तियाँ हैं; यवभूमि के राजाओं से संबंधित अंश ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सुवर्णद्वीपाधिपमहाराजश्रीबालपुत्रदेवेन दूतकमुखेन वयं विज्ञापिताः यथा—मया श्रीनालन्दायां विहारः कारितः। तत्र भगवतो बुद्धभट्टारकस्य प्रज्ञापारमितादि सकलधर्मनेत्री स्थानस्यार्थाये तत्रकबोधिसत्त्वगणस्याष्टमहापुरुषपुद्गलस्य चातुर्दिशार्य-

भिक्षुसंघस्य बलि-चरु-सत्र-चीवर-पिण्डपात-शयनासन-ग्लान-प्रत्यय-भेषजाद्यर्थं धर्मरत्नस्य लेखनाद्यर्थं विहारस्य च खण्डस्फुटित-समाधानार्थं शासनीकृत्य प्रतिपादिताः।

आसीदशेषनरपालविलोलमौलिमालामणिद्युतिविबोधितपादपद्मः।
शैलेन्द्रवंशतिलको यवभूमिपालः श्रीवीरवैरिमथनानुगताभिधानः॥ [२४]

हर्म्यस्थलेषु कुमुदेषु मृणालिनीषु
शंखेन्दुकुन्दतुहिनेषु पदन्दधाना।
निःशेषदिङ्मुखनिरन्तरलब्धगीति-
मूर्तेव यस्य भुवनानि जगाम कीर्त्तिः॥ [२५]

भ्रूभङ्गे भवति नृपस्य यस्य कोपात्
निर्भिन्नाः सह हृदयैर्द्विषां श्रियोपि।
वक्राणामिह हि परोपघात-दक्षा
जायन्ते जगति भृशाकृतिप्रकाराः॥ [२६]

तस्याभवन्नय-पराक्रम-शीलशाली
राजेन्द्रमौलिशत-दुर्ललितांघ्रियुग्मः।
सूनुर्युधिष्ठिर-पराशर-भीमसेन-
कर्ण्णार्ज्जुनार्ज्जितयशाः समराग्रवीरः॥ [२७]

उद्धूतमम्बरतलाद्युधि सञ्चरन्त्या
यत्सेनयावनिरजःपटलं पटीयः।
कर्ण्णानिलेन करिणां शनकैर्वितीर्ण्णं
गण्डस्थलीमदजलैः शमयाम्बभूव॥ [२८]

अकृष्णपक्षमेवेदमभूद्भुवनमण्डलम्।
कुलन्दैत्याधिपस्येव यद्यशोभिरनारतम्॥ [२९]

पौलोमीव सुराधिपस्य विदिता सङ्कल्पयोनेरिव,
प्रीतिः शैलसुतेव मन्मथरिपोर्ल्लक्ष्मीर्मुरारेरिव।
राज्ञः सोमकुलान्वयस्य महतः श्रीवर्मसेतोः सुता
तस्याभूदवनीभुजोऽग्रमहिषी तारेव ताराह्वया॥ [३०]

मायायामिव कामदेवविजयी शुद्धोदनस्यात्मजः,
स्कन्दो नन्दितदेववृन्दहृदयः शम्भोरुमायामिव।

तस्यान्तस्य नरेन्द्रवृन्दविनमत्पादारविन्दासनः,

सर्व्वोर्व्वीपतिगर्व्वखर्वणचणः श्रीबालपुत्रोऽभवत् ॥ [३१]

नालन्दागुणवृन्दलुब्धमनसा भक्त्या च शौद्धोदने-

र्बुद्ध्वा शैलसरित्तरङ्गतरलां लक्ष्मीमिमां शोभनाम् ।

यस्तेनोन्नतसौधधामधवलः सङ्घार्थमित्रश्रिया

नानासद्गुणभिक्षुसङ्घवसतिस्तस्यां विहारः कृतः ॥ [३२]

भक्त्या तत्र समस्तशत्रुवनितावैधव्यदीक्षागुरुं

कृत्वा शासनमाहितादरतया सम्प्रार्थ्य दूतैरसौ ।

ग्रामान्पञ्च विपश्चितोपरि यथोद्देशानिमानात्मनः

पित्रोर्लोकहितोदयाय च ददौ श्रीदेवपालं नृपम् ॥ [३३]

यावत्सिन्धोः प्रबन्धः पृथुलहरजटाक्षोभिताङ्गा च गङ्गा

गुर्वीं धत्ते फणीन्द्रः प्रतिदिनमचलो हेलया यावदुर्वीम् ।

यावच्चास्तोदयाद्री रवितुरगखुरोद्घृष्टचूडामणीस्त-

स्तावत्सत्कीर्त्तिरेषा प्रभवतु जगतां सत्क्रिया रोपयन्ती ॥ [३४]

अनुवाद—सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के शासक महाराज श्री बालपुत्रदेव ने दूत के द्वारा हम लोगों को यह संदेश भेजा है कि "मैंने नालंदा में एक विहार का निर्माण कराया है।" इस शासनपत्र के द्वारा इसकी आय भगवान् बुद्ध की पूजा के लिये, प्रज्ञापारमिता के सदृश संपूर्ण सद्गुणों से युक्त विद्वानों के पूजन के लिये, और वहाँ के बोधिसत्त्वगण के आठ महापुरुषों की पूजा के लिये, तथा चातुर्दिश भिक्षुसंघ के बलि, हवन, पूजन, वस्त्र, भिक्षा, शयन-आसन तथा रोगियों की चिकित्सा के लिये, धर्म-रत्न आदि के लिखने के लिये, एवं विहार की टूट-फूट की मरम्मत करने के लिये हम लोगों को आदेश दिया गया है।

श्लोकों का सारांश—(२४) यवभूमि (जावा) का शासक, शैलेंद्र-वंश का रत्न, अपने नाम के अनुरूप प्रबल शत्रुओं का विध्वंसक, सारे नृपति-समाज का सिरमौर था।

(२५) उसका यश सारे संसार में व्याप्त हो गया था।

(२६) उसके पराक्रम के भय से शत्रु कंपित थे।

(२७) उसका पुत्र नीतिवान्, पराक्रमी, शीलवान्, सैकड़ों राजाओं के द्वारा वंदितचरण और कीर्ति में युधिष्ठिर, पराशर, भीमसेन, कर्ण और अर्जुन के तुल्य हुआ।

(२८) उस (पुत्र) की सेना विशाल और अतुल पराक्रमवाली थी।

(२९) उसके दिगंतव्यापी यश से पृथिवी शुक्ल हो गई।

(३०) रति, पार्वती, लक्ष्मी आदि के सदृश उसकी स्त्री तारा थी, जो धर्मसेतु की पुत्री थी।

(३१) तारा ने बुद्ध और कार्त्तिकेय के समान प्रतापी और नृपति-सिरमौर बालपुत्र नामक कुमार को जन्म दिया।

(३२) नालंदा की विभूतियों से आकृष्ट होकर भगवान् बुद्ध के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए संपत्ति को नाशवान् समझकर, सर्वार्थमित्र की तरह यशवाले उस [बालपुत्र] ने नालंदा में एक विशाल, धवल विहार का निर्माण कराया, जिसमें अनेक सद्गुणों से युक्त भिक्षुओं का संघ निवास करने लगा।

(३३) [मगध के] प्रतापी सम्राट् देवपालदेव के पास सविनय दूतक भेजकर उसने एक शासनपत्र निकलवाया जिससे उस [बालपुत्र] ने अपने हित के लिये, माता-पिता तथा जगत् के कल्याण के लिये, उपर्युक्त पाँच गाँवों का दान किया।

(३४) जब तक सिंधु, गंगा, शेष और सूर्य आदि हैं तब तक यह सत्कीर्ति संसार में अमर रहे।

श्री नालंदामहाविहारीय आर्यभिक्षुसंघस्य

—यह वाक्य नालंदा-विश्वविद्यालय की मुद्रा पर अंकित था। इन मुद्राओं के कई नमूने नालंदा में मिले हैं। नालंदा-विश्वविद्यालय के महाविहार में ज्ञान-साधना करनेवाले आर्यभिक्षुसंघ की यह मुद्रा समस्त एशिया महाद्वीप में लगभग एक सहस्र वर्षों तक (४०० वि० से १२०० वि० तक) सब से बड़े गौरव का चिह्न समझी जाती थी।

जानपद जन

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

§ १

प्रियदर्शी महाराज अशोक ने गाँवों की भारतीय जनता के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह सम्मानित शब्द है 'जानपद जन'। अशोक के लेखों का पारायण करते हुए हमें इस बहुमूल्य शब्द का परिचय मिलता है। सात लाख गाँवों में बसनेवाली जनता को हम इस पवित्र नाम से संबोधित कर सकते हैं। इस समय इस प्रकार के उच्चाशय से भरे हुए एक सरल नाम की सर्वत्र आवश्यकता है। एक ओर साहित्यिक जीवन में साहित्यसेवी विद्वान् जनपदकल्याणीय योजनाओं पर विचार करने में लगे हैं एवं सामाजिक जीवन में नगर की परिधि से घिरे हुए नागरिक जन विशाल लोक के स्वस्थ और स्वच्छंद वातावरण में खुलकर श्वास लेने के लिये आकुल हैं, दूसरी ओर राजनैतिक जीवन में भी ग्रामवासी जन समुदाय की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ है। चिरकाल से भूले हुए जानपद जन की स्मृति सबको पुनः प्राप्त हो रही है और जानपद जन को पुनः अपने उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा सब जगह एक सी दिखाई पड़ती है। प्रत्येक क्षेत्र में उठनेवाले नवीन आंदोलनों की यह एक सर्वत्रव्यापी विशेषता है।

ऐसे समय भारत के प्रिय सम्राट् महाराज अशोक के हृदय से निकले हुए जनता के इस प्रिय नाम 'जानपद जन' का हमें हार्दिक स्वागत करना चाहिए। अशोक के हृदय में देश की प्राण शत-सहस्र जनता के लिये अगाध प्रीति थी। उनके साथ साक्षात् संपर्क प्राप्त करने के लिये उन्होंने कई नए उपायों का अवलंबन किया। अभी उनको सिंहासन पर बैठे दस ही वर्ष हुए थे कि पहले राजाओं की विहार-यात्राओं को रद्द करके लोक-जीवन से स्वयं परिचित होने के लिये उन्होंने एक नए प्रकार के दौरे का विधान किया

जिसका नाम धर्मयात्रा रखा गया। इसका उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित था।

'जानपदसा च जनसा दसने धमंनुसथि च धम पलिपुछा च'

(अष्टम शिलालेख)

आज भी चकराता तहसील में यमुना और तमसा के संगम पर स्थित कालसी गाँव में हिमालय के एक शिलाखंड पर ये शब्द खुदे हुए हैं। धर्म के लिये होनेवाले इन दौरों का उद्देश्य था—

१—जानपद जन का दर्शन,

२—उनको धर्म की शिक्षा, और

३—उनके साथ धर्म विषयक पूछताछ करना।

पृथ्वी को अलंकृत करनेवाले वैभवशाली सम्राट् के ये सरलता से भरे हुए उद्गार हैं। जहाँ पहले राजाओं को देखने के लिये प्रजा को आना पड़ता था, वहाँ अब स्वयं सम्राट् उनके बीच में जाकर उनसे मेलजोल बढ़ाना चाहते हैं। जानपद जन का दर्शन सम्राट् प्राप्त करें, यह भावना कितनी उदार, शुद्ध और उच्च है। इसी लिये एच० जी० वेल्स सरीखे ऐतिहासिकों का कहना है कि अशोक के हृदय से तुलना करने के लिये संसार का और कोई सम्राट् सामने नहीं आता। जानपद जन के संपर्क में आकर सम्राट् उनके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाना चाहते हैं। यही उस समय की वास्तविक लोकशिक्षा थी। धार्मिक पक्ष की ओर ध्यान देते हुए भी जनता के लौकिक कल्याण की बात को अशोक ने नहीं भुलाया। प्रथम तो उन्होंने जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये जनता की सीधी-सादी ठेठ भाषा का सहारा लिया। राजकाज में भाषा संबंधी यह परिवर्तन अशोक की अपनी विलक्षण सूझ और साहस का फल था। उस समय कौन सोच सकता था कि सम्राट् के धर्मस्तंभों पर जनता की ठेठ भाषा स्थान पाने के योग्य समझी जायगी। तुष्ट की जगह 'तुठ', ब्राह्मण की जगह 'बंभन', और पौत्र के लिये 'पोता' ये इस ठेठ बोली के उदाहरण हैं। जानपद जन का परिचय पाने के लिये जानपदी भाषा का उचित आदर अत्यंत आवश्यक है। जानपद जन के प्रति श्रद्धा होने के लिये जानपदी बोली के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए।

अशोक ने लोक-स्थिति सुधारने का दूसरा उपाय यह किया कि एक विशेष पद के राजकीय पुरुष नियुक्त किए जिनका कार्य केवल जानपद जन के हित सुख की चिंता करना था। उनको लेख में राजुक कहा गया है। ये लोग इतने विश्वसनीय, नीति-धर्म के पक्के, आचार में सुपरीक्षित और धर्म-निष्ठ थे कि अशोक ने स्वयं लिखा है—"जैसे कोई व्यक्ति सुपरिचित धात्री के हाथ में अपनी संतान को सौंपकर निश्चित हो जाता है, वैसे ही मैं जन-पदीय हित-सुख के लिये राजुकों को नियुक्त करके हुआ हूँ"—

"हेवं मम लाजूक कट जानपदस हितसुखाये।"

"जानपद जन के हित-सुख के लिये"—सम्राट् के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

'ये लोग बिना किसी भय के, उत्साह के साथ, मन लगाकर अपना कर्तव्य करें, इसलिये मैंने इनके हाथ में न्याय के साथ व्यवहार करने और दंड देने के अधिकार सौंप दिए हैं।' जानपद जन के लिये न्याय की प्राप्ति उनके अपने क्षेत्र में ही सुलभ कर देना सम्राट् का एक बड़ा वरदान था।

इस प्रकार प्रियदर्शी अशोक ने जानपद जन को शासन के केंद्र में प्रतिष्ठित करके एक नवीन आदर्श की स्थापना की। जानपद जन के प्रति उनकी जो कल्याणमयी भावना थी उसी से जनता को पुकारनेवाले इस सरल, सुंदर और प्रिय नाम का जन्म हुआ।

§ २

प्राचीन भारत में जानपद जन का जो सरल और सुखमय जीवन था उसका प्रदर्शन करनेवाले तीन चित्र यहाँ प्रकाशित किए जा रहे हैं।

चित्र १—बवनी का यह दृश्य आंध्र देश के कृष्णा जिले के शिंगवरं स्थान से प्राप्त विक्रम की चौथी शताब्दि पूर्व की आहत मुद्रा से लिया गया है। चाँदी के कार्षापण पर आहत इस रूप (सिंबल) में खेत की बोवाई का दृश्य है। पीढ़े और बड़े हल की सहायता से दो बैल खेत जोतते हुए दिखाए गए हैं।

चित्र २—यह चित्र भी शिंगवर के एक चाँदी के कार्षापण से लिया गया है। इसमें खलिहान में अनाज की मँड़नी का दृश्य है। बीच में एक

चित्र १

छायादार वृक्ष है। दोनों ओर चार-चार बैल पयर (संस्कृत, प्रकर) या चकही के ऊपर घूमते हुए दाँय चला रहे हैं। इसी के बाद भूसा और अन्न
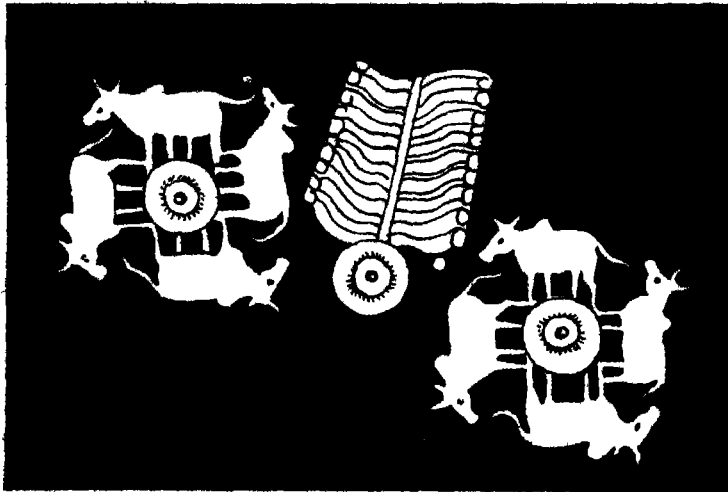
चित्र २

अलग हो जाते हैं। अन्न का ढेर रास (सं० राशि) कहलाने लगता है।

राशि किसान के परिश्रम का मूर्तिमान् रूप है। मानों क्षेत्र-लक्ष्मी का जगमग दर्शन रास के रूप में किसान को मिलता है।

चित्र ३—यह चित्र गोरखपुर से १४ मील दक्षिण में स्थित सोहगौरा स्थान से प्राप्त ताम्रपट से लिया गया है। इसमें दो कोष्ठागार या अन्न के
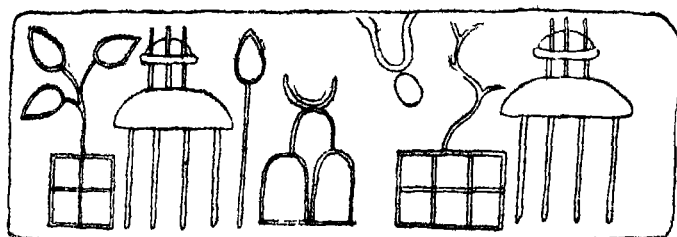
चित्र ३

बृहत् भांडार दिखाए गए हैं। अन्न की राशि खेत से उठकर कोठारों में भरी जाती थी। ये दो राजकीय कोठार हैं। ताम्रपट्ट में लिखा है कि दुर्भिक्ष-निवारण के लिये राज्य की ओर से ये कोठार सदा अन्न से भरपूर रखे जाते थे। लेख मौर्यकालीन (विक्रम से लगभग चौथी शताब्दि पूर्व) का माना गया है। इसमें श्रावस्ती के महामात्रों को आज्ञा दी गई है कि अकाल के समय इन अन्न-भांडारों को प्रजा में वितरण के लिये खोल दिया जाय। राज्य की ओर से प्रजाओं के भरण-पोषण के लिये जो दूरदर्शिता बरती जाती थी, श्रावस्ती के ये कोष्ठागार उसके चिरंजीवी दृष्टांत हैं।

महास्थान (बोगरा जिला, पूर्वी बंगाल) से मिले हुए एक दूसरे अभिलेख में, जो विक्रम पूर्व लगभग चौथी शताब्दि का है, दुर्भिक्ष के समय ऐसे ही कोष्ठागारों के खोले जाने का उल्लेख है। लिखा है—'पुंड्र नगर के महामात्र इस आज्ञा का पालन कराएँगे। संवंगीयों के उपभोग के लिये धान दिया गया है। इस दैवी विपत्ति (दैवात्ययिक) के समय नगर पर जो घोर अन्न-संकट आया है उससे पार उतरना चाहिए। जब सुभिक्ष होगा तब कोष्ठागार फिर धान से और कोष गंडक मुद्राओं से भर दिए जायँगे।' (ए० इं० २१।८५)।

———

धनिय गोप के उद्गार

(पाली सुत्तनिपात से)

धनिय नाम का गोप गार्हस्थ्य जीवन के सरल सुखों की प्राप्ति के कारण निश्चिंत बना हुआ वृष्टि के अधिष्ठाता इंद्र से निर्भयतापूर्वक कहता है। उसके कथन से प्राचीन भारत की कृषक जनता की कर्मण्यता और आत्मविश्वास का एक चित्र सामने आता है।

१

मेरे यहाँ भोजन यथेष्ट है, मेरे घर में दूध देनेवाली गायें बँधी हैं। नदी-किनारे अपने कुटुंबियों के साथ मैं अपने घर हूँ। घर मेरा भली भाँति छाया हुआ है। उसमें प्रज्वलित अग्नि विद्यमान है।

हे देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

२

न यहाँ मक्खियाँ हैं, न मच्छर। मेरे कछार में गायों के लिये हरी घास लहरा रही है। वहाँ चरती हुई मेरी गायें वर्षा का वेग सहने में समर्थ हैं।

देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

३

मेरी गोपी का मन शुद्ध और मुझमें अनुरक्त है। बहुत दिनों से हम दोनों सुखपूर्वक साथ रह रहे हैं। उसके विषय में मैंने कभी कोई अनुचित बात नहीं सुनी।

देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

४

मैं अपनी ही कमाई से अपना भरण-पोषण करता हूँ। मेरे पुत्र और मेरी पुत्रियाँ नीरोग और स्वस्थ हैं। उनके संबंध में भी मैंने कोई अनुचित बात नहीं सुनी।

देव तुम, जितना चाहो, बरस लो।

५

मेरा गोठ बछड़े-बछियों से भरा है। गाभिन गायें भी उसमें हैं। गोपति वृषभ भी विद्यमान है।

देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

६

गायों के खूँटे दृढ़ता से गड़े हुए हैं। मूँज की बटी हुई रस्सियाँ नई और पोढ़ी हैं। गायें उन्हें तोड़ नहीं सकतीं।

देव, तुम जितना चाहे, बरस लो।*

---

* मूल पाली के श्लोक, सुत्तनिपात, उरगवग्ग, धनियसुत्त से—

१—पक्कोदनो दुद्धखीरोऽहमस्मि,
(इति धनियो गोपो) अनुतीरे महिया समानवासो,
छन्ना कुटि, आहितो गिनि,
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

२—अंधकमकसा न विज्जरे
(इति धनियो गोपो) कच्छे रुळ्ह तिणे चरन्ति गावो,
वुट्ठिं पि स हेय्यु मा गतं
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

३—गोपी मम अस्सवा अलोला
(इति धनियो गोपो) दीघरत्तं संवासिया मनापा,
तस्सा न सुणामि किञ्चि पापं
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

४—वेतनभतोऽहमस्मि
(इति धनियो गोपो) पुत्ता च मे समानिया अरोगा,
तेसं न सुणामि किञ्चि पापं
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

५—अत्थिवसा, अत्थि धेनुपा
(इति धनियो गोपो) गोधरणियो पवेनियो पि अत्थि।
उसभो पि गवम्पती च अत्थि
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

६—खिला निखाता असम्पवेधी
(इति धनियो गोपो) दामा मुञ्जमया नवा सुसण्ठाना।
न हि सक्खिन्ति धेनुपापि छेत्तुम्
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त की मुद्राओं के जयोदाहरण

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

गुप्त सम्राटों ने जो असंख्य सुवर्ण-मुद्राएँ प्रचलित कीं उनमें से अनेक आज भी उपलब्ध हैं। उनसे उस युग की हिरण्य संपत्ति सूचित होती है। तत्कालीन ललित भवनों में संचरणशील लक्ष्मी के पादन्यास की तरह ये मुद्राएँ सुवर्णयुग के चित्र को साक्षात् हमारे सम्मुख खींच देती हैं।

गरुत्मदंक (गुप्तों की राजमुद्रा)

(यह आकृति भीतरी गाँव से प्राप्त मुद्रा से ली गई है)

जय-स्तंभों पर सम्राटों ने अपनी विजय के जो उदार प्रबंध उत्कीर्ण कराए, मुद्राओं पर उन्हीं के संक्षिप्त रूप उपलब्ध हैं। मुद्राओं पर जो

जयोदाहरण या जय का बखान करनेवाले बिरुद हैं, वे सम्राटों की विक्रम-शालिनी महिमा के छोटे सूत्रों की तरह हैं।
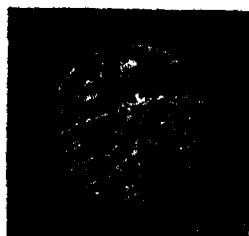
समुद्रगुप्त

१. उत्पताक भाँति*—

चित—समरशतविततविजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति। पट—पराक्रमः।

यह सम्राट् की सबसे पहली मुद्रा है। इसके द्वारा उसने अपने पराक्रम की पताका फहराई है, इसी कारण इस मुद्रा को 'उत्पताक' संज्ञा चरितार्थ है।

मुद्रा के पृष्ठ पर अब तक 'पराक्रम' अंकित था। अभी हाल ही में नर्मदा की शाखा वेदा नदी के तट पर स्थित बमनाला गाँव (परगना भीखम गाँव, रियासत इंदौर) से प्राप्त गुप्त स्वर्ण-मुद्राओं में समुद्रगुप्त की एक उत्पताक भाँति की मुद्रा पर 'श्रीविक्रमः' बिरुद भी प्राप्त हुआ है। वस्तुतः सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने ही समर शतों में विजय का वितान करके विक्रम के सत्र का प्रारंभ किया था।

इस मुद्रा के चित-दाँव सम्राट् उदीच्यवेष में चोलक (कोट) और सलवार पहने हुए हुताग्नि मुद्रा में (वेदि पर अग्न्याहुति डालते हुए) दिखाए गए हैं। उनके वाम हस्त में विजय पताका और दक्षिण ओर गरुडध्वज अंकित है। पट दाँव, लक्ष्मी की मूर्ति है।

---

* उत्पताक भाँति = स्टैंडर्ड टाइप, उत्पताक संज्ञा रघुवंश १।७४ से ली गई है। अंगरेजी 'टाइप' शब्द के लिये 'भाँति', 'क्लास' के लिये बाना (सं० वर्णक) और 'वैराइटी' के लिये 'उपभेद' शब्द हैं। Obverse= चित Reverse पट।

२. धनुर्धर भाँति (आर्चर टाइप)—

चित—समुद्र अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति। पट—अप्रतिरथः।

यह गुप्तों की प्रिय मुद्रा है। कालिदास ने लिखा है—

क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः। रघु० ३।३१

धनुर्भृत् शब्द का कवि ने प्रयोग किया है (रघु० २। ११; ३।३८, ३९)। स्कंद गुप्त ने अपने आपको धनुर्धर मुद्रा पर अपने लिये 'सुधन्वी' विशेषण दिया है। गुप्तों ने अपने पराक्रम का विस्तार करते हुए जिस 'जैत्र धनु' को अधिज्य किया था उसी का प्रतिरूप इस मुद्रा पर है। 'अप्रतिरथः' विशेषण भी सार्थक है। दिग्विजयी रघु के लिये कवि ने लिखा है—

'गतिर्विजय्ने न हि तद्रथस्य' एवं 'दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः' (३।४०)

३. राजदंपती या चंद्रगुप्त कुमारदेवी भाँति—

चित—चंद्रगुप्त कुमारदेवी या श्री कुमारदेवी। पट—लिच्छवयः।

राजा-रानी भाँति की यह मुद्रा समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता के यश को मूर्तिमान् करने के लिये प्रचलित की थी। इस पर धर्मपत्नी सहित सम्राट् की प्रतिकृति अत्यंत सुंदर है। रघुवंश के पहले और दूसरे सर्गों में राजा-रानी का जो चरित्र है वह चंद्रगुप्त-कुमारदेवी का स्मारक है। इन सर्गों में सर्वत्र 'उभौ राज-दंपती' (रघु० २।१८; २।७०) का आदर्श है। पहले सर्ग में (१।३५-४६) रथ पर विराजमान राजदंपती के वर्णन में बारह श्लोकों में विशेषणों की लड़ी पाई जाती है। महिषीसखः (रघु० १।४८), धर्मपत्नी-सहितः, (२।७२) सपत्नीकः (१।८१), सपरिग्रहः (१।९२), परिग्रहद्वितीयः (१।९५), सभार्याय (१।५५) आदि विशेषण लिच्छवि-राजकुमारी कुमारदेवी की महिमा को सूचित करते हैं। इधर सुदक्षिणा भी मागधी और मगधवंशजा है। चंद्रगुप्त नाम में चंद्र पद निहित है। दिलीप को कवि ने 'राजेंदु' दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव (१।१२) कहा है और चित्राचन्द्रमसोरिव (रघु० १।४६) कहकर राजदंपती का वर्णन किया है। जिस प्रकार ओषधि-नाथ चंद्रमा के नवोदय का प्रजा अपने नेत्रों से पान करती है उसी प्रकार राजेंद्र दिलीप का उन्होंने अभिनंदन किया (२।७३)। मुद्रा पर भी राजा

और रानी के बीच में चंद्रमा की कला अंकित की गई है। दिलीप का गो-चारण भी एक प्रतीक की तरह जान पड़ता है। कवि ने स्वयं गौ को भूमि से उपमा दी है—

जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् (२।३)

साम्राज्य-विस्तार से पूर्व महाराजाधिराज चंद्रगुप्त पाटलिपुत्र के शासक थे। यही एक बड़ी पुरी उनके राज्य में थी (अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव, १।३०)। आत्मानुरूपा और मगधवंशजा पत्नी को प्राप्त करके चंद्रगुप्त की महिमा विशिष्ट हुई, परंतु राज्य का विस्तार उनके पुत्र समुद्रगुप्त ने ही किया।

४. कृतांतपरशु भाँति—

चित—समुद्र कृतान्तपरशुर्जयत्यजितराजजेताजितः।

पट—कृतान्तपरशुः।

यह मुद्रा समुद्रगुप्त के भीम रूप की सूचक है। शिलालेखों की प्रशस्ति में भी कृतांतपरशु विशेषण प्रायः आया है।

५. काच भाँति—

चित—काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति।

पट—सर्वराजोच्छेत्ता।

एक ओर हुताग्नि मुद्रा में उदीच्यवेषधारी सम्राट् चक्रध्वजा लिए हुए; दूसरी ओर पद्महस्ता पद्मासना लक्ष्मी खड़ी हैं। लक्ष्मी के बाएँ हाथ में ऋद्धि शृंग या विषाण (कार्न्यूकोपिआ) है। महाभारत में भी अभिषेक के लिये तोयपूर्ण विषाणों का उल्लेख है।

यह मुद्रा अब तक स्वयं समुद्रगुप्त की ही मानी जाती है। परंतु संभव है काच समुद्रगुप्त के एक भाई का नाम था जिसकी स्मारक ये मुद्राएँ हैं।

६. व्याघ्रपराक्रम भाँति—

चित—व्याघ्रपराक्रमः।

पट—राजा समुद्रगुप्तः।

यह भाँति बहुत कम उपलब्ध है। इसके एक ओर सम्राट् व्याघ्र के वध के लिये कर्णांत आकृष्ट धनुष से बाण चला रहे हैं। दूसरी ओर मकर-वाहिनी गंगा की सुंदर मूर्ति है। यह मुद्रा समुद्रगुप्त की वंग-विजय की

सूचक है। व्याघ्र और गंगा दोनों ही इसके प्रमाण हैं। वंगों की विजय में रघु ने उनको बलपूर्वक उखाड़कर प्रसभोद्धरण नीति का अनुसरण किया था (वंगानुत्खाय तरसा, ४।३६)।

७. उपवीणी भाँति—

चित—महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः।

पट—समुद्रगुप्तः।

इस मुद्रा पर एक ओर सम्राट् परिवादक रूप में वीणा बजाते हुए अंकित हैं। दूसरी ओर वेत्र के मुंडासन पर लक्ष्मी जी स्थित हैं। प्रयाग-प्रशस्ति में कहा गया है कि गांधर्व कला में समुद्रगुप्त के वैदग्ध्य को देखकर नारद और तुंबुरु भी लज्जित होते थे (निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपति-गुरुतुम्बुरुनारदादेः)। इस मुद्रा को गांधर्व भाँति की मुद्रा भी कह सकते हैं।

८. अश्वमेध भाँति—

चित—राजाधिराजः पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः।

पट—अश्वमेधपराक्रमः।

यह मुद्रा समुद्रगुप्त की दिगंत-विजय की पूर्णाहुति को सूचित करती है। इस पर एक ओर यूप के समक्ष भव्याकृति अनर्गल होम-तुरंग खड़ा हुआ है। दूसरी ओर महिषी की प्रतिकृति है। कालिदास ने दिलीप के अश्वमेध का वर्णन करते हुए महाक्रतु अश्वमेध के अनर्गल तुरंग उत्सर्ग का उल्लेख किया है (३।३९) और अश्व को अश्वमेध का श्रेष्ठ साधन (अग्र्यांग, ३।४६) कहा है।

अश्वमेध राष्ट्रीय विस्तार का सूचक है। बाह्य जगत् को दिगंत तक अपने वश में लाने का पराक्रम जिस युग में किया गया वही अश्वमेध का युग था।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत् परापतत्। ततोऽश्वः समभवत्। यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्। (श० १५।३।१।१)

'प्रजापति की आँख फूली। वह बाहर निकली। उससे अश्व हुआ। वह जो फूलना था, यही अश्व का अश्वपन है (अश्व में भी वही फूलनेवाली श्वि धातु है।)'

इस अवतरण का क्या अर्थ है? अश्व विराट् का नाम है। विराट् बनने को ही फूलना कहा जाता है। प्रजापति केंद्र बिंदु की संज्ञा है। उस

गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त
(उपवीणी भाँति की मुद्रा से ली हुई प्रतिकृति)

केंद्र में जब बाहर की ओर देखने की आँख उत्पन्न होती है तब वह केंद्र बढ़कर बाहर की ओर फूलता है। यह फूलना ही प्रजापति का विराट् भाव, या केंद्र का वृत्त रूप में बढ़ना है। जो फूल गया, अपने केंद्र से फूलकर बाहर की ओर फैला, वही अश्व था। प्रजापति की तरह केंद्र में बैठे हुए राष्ट्र की आँख फूली, उसके चातुर्दिश दर्शन का विस्तार होने लगा। चारों ओर को बढ़नेवाली उस आँख या चक्षुष्मत्ता से राष्ट्र का स्वरूप विराट् हुआ। चूँकि वह फूला और फैला, इसी लिये उसे सांकेतिक निरुक्त की भाषा में 'अश्व' कहा जाता है।

तांड्य ब्राह्मण (२१।४।२) में इतना और कहा है कि उस फूलकर गिरी हुई आँख को अश्वमेध के द्वारा देवों ने फिर अपनी जगह रख दिया (तद्देवा अश्वमेधेन प्रत्यदधुः*)। बिना अश्वमेध के संपादन के फैला हुआ राष्ट्र अपने काम का नहीं होता। जो अपनी शक्ति और अधिकार से बाहर है वह अमेध्य है। उसे अपने शासन की परिधि में लाना ही मेध्य करना है। जो वस्तु हमारे जीवन की परिधि के अंतर्गत आ जाती है वही हमारे लिये मेध्य होती है। शेष अमेध्य है। राजा के लिये राष्ट्र का विस्तार भाव अमेध्य है। जब उसे वह अपने शासन की परिधि में लाता है तब वह मेध्य भाव से युक्त होता है। शतपथ में कहा है कि जो अश्व है वह अमेध्य और अपूत है (अपूतो वा एषोऽमेध्यो यदश्वः, १३।१।१।१)। अपूत को पूत करना, अमेध्य को मेध्य बनाना ही राष्ट्र की फूली हुई आँख का अश्वमेध यज्ञ है। पृथिवी का जो अंश, ऐश्वर्य का भाग, संस्कृति का क्षेत्र, अपने अधिकार में लाकर आत्मवश्य कर लिया जाता है वही मेध्य या पवित्र या स्पृश्य बन जाता है।

गुप्त-युग में इस अश्वमेध-भावना का ओजस्वी उदय हुआ। सम्राटों ने विक्रम की महिमा से समुद्र तक पृथिवी को अपने शासन में लाने (आसमुद्रक्षितीश) और स्वर्ग तक अपना रथ ले जाने (आनाकरथवर्त्म) के आदर्शों को अपनाया। चार समुद्रों की मेखलावाली पृथिवी का एकछत्र शासन—एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं—उनका ध्येय बना। भारत और उसके

---

* और भी देखिए जैमिनीय ब्रा० २।२४८; तैत्तिरीय संहिता (५।३।१२।१)।

बाहर के द्वीपांतरों में राष्ट्र की शक्ति फैली; अष्टादश द्वीपों में यश के यूप स्थापित हुए (अष्टादशद्वीपनिखातयूपः)। राष्ट्र का यश पहाड़ों पर चढ़कर और समुद्रों को लाँघकर सब दिशाओं में फैलने लगा, जैसा कवि ने अपने युग के आदर्शों को मूर्तिमान् करते हुए लिखा है—

आरूढमद्रीनुदधीन् वितीर्णं भुजङ्गमानां वसति प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्॥ (रघु० ६।७७)

'पर्वतों और सागरों की सीमाओं के पार वह यश फैला। पाताल और आकाश में भी वह छा गया। उस यश की कोई इयत्ता न थी।' सम्राटों के बाहुबल का जयोदाहरण और राष्ट्र का अनुबंधी यश उस समय प्रत्येक क्षेत्र में जिस प्रकार विस्तृत हुआ वह रोमांचकारी कथा है। समुद्रगुप्त ने राष्ट्र के संवर्धन और विस्तार के लिये अश्वमेध किया। 'श्रीवैं राष्ट्रमश्वमेधः' (श० १३।२।९।२)—राष्ट्र की श्री ही अश्वमेध यज्ञ है। 'सब यज्ञों में तेजस्वी, ऊर्जस्वान्, प्रतिष्ठित, अतिव्याधी, विधृत, सुक्लृप्त और दीर्घ फल से युक्त जो यज्ञ है वही अश्वमेध है।' अश्वमेध का भाव क्षीण होने से राष्ट्र के स्वरूप का भी संकोचन होने लगता है। सम्राट् ने दंडनीति और सुशासन का जो यूप राष्ट्र में प्रतिष्ठित किया, उसके नियमन में समस्त राष्ट्र आकर बँध गया। यही यूप के सम्मुख खड़ा हुआ होमकाश्व है।

अपने ही केंद्र में विकास और परत्र विस्तार इन दोनों के साथ राष्ट्ररूपी अनर्गल अश्व को यूप में नियमित कर दिया गया। यही सम्राट समुद्रगुप्त का अश्वमेध महायज्ञ था।

चंद्रगुप्त

चंद्रगुप्त की मुद्राओं पर विरुदों की विशेषता 'विक्रम' उपाधि है। श्रीविक्रम, विक्रमार्क, विक्रमादित्य सिंहविक्रम, अजितविक्रम—इन विरुदों में विक्रम की ध्वनि गूँजती है। यहाँ केवल संक्षेप से उन जयोदाहरण-सूत्रों का उल्लेख किया जाता है।

१. धनुर्धर भाँति की मुद्रा—

चित—चन्ददेव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—श्रीविक्रमः ।

इसी भाँति में एक बानक ऐसा है जिसमें सम्राट् निषंग से बाण निकालते हुए दिखाए गए हैं।

नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः (२।३०)।
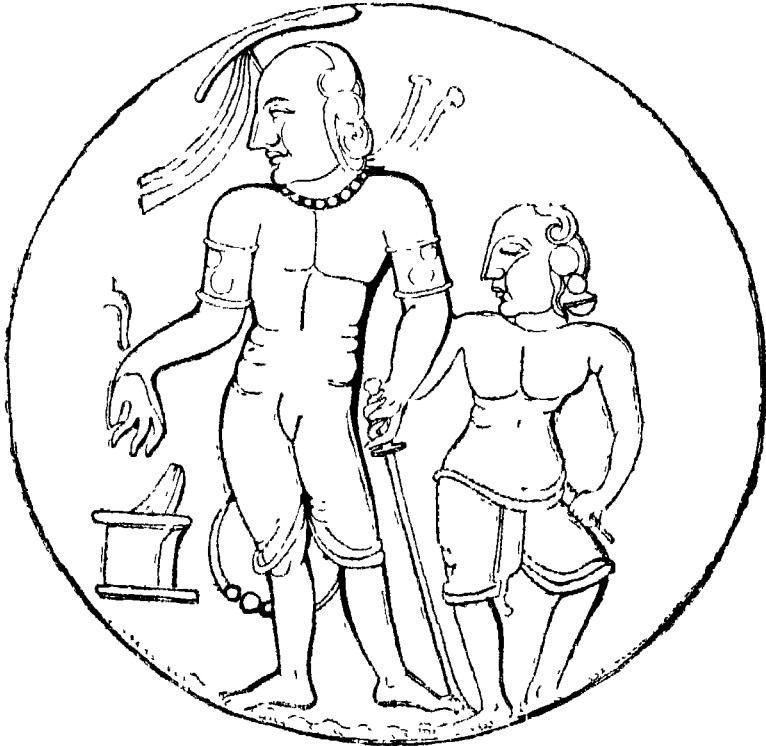
महाराजाधिराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की हुताग्नि मुद्रा

२. भद्रासन भाँति (Couch Type।)—केवल दो नमूने अब तक प्राप्त हुए हैं।

चित—(भद्रासन पर उपविष्ट सम्राट् ।) देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य ।

भद्रासन के नीचे 'रूपाकृती' विशेषण है।

पट—श्रीविक्रमः ।

३. **छत्र भाँति**—एक ओर सम्राट् और उनके ऊपर शशिप्रभ पद्मातपत्र-रूपी छत्र उठाए हुए वामन, और दूसरी ओर पद्मासना लक्ष्मी।

चित—महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—विक्रमादित्यः।

इसी भाँति में दूसरा बाना—

चित—क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।

पट—पूर्ववत्।

४. सिंहविक्रम भाँति—

चित—नरेन्द्रचन्द्रः प्रथित...दिवं जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः।

पट—सिंहविक्रमः।

सामने सिंह की तरह प्रवृद्ध सत्त्ववाले (सिंहारूढसत्त्व) सम्राट् सिंह का वध कर रहे हैं। कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में इस मुद्रा की व्याख्या पाई जाती है—

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।

जाताभिषंगो नृपतिर्निषंगादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः॥ (रघु० २।३०)

मृगेन्द्र के वध के लिये प्रचंड नृपति ने क्रुद्ध होकर तरकश से बाण निकालना चाहा।

इसी भाँति में दूसरा बाना—

चित—नरेन्द्रसिंह चन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति।

पट—सिंह चन्द्रः।

तीसरा बाना—

चित—देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—श्रीसिंहविक्रमः।

इसी भाँति में एक चौथा बानक भी है, जिसका केवल एक ही उदाहरण अभी तक उपलब्ध हुआ है (लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित)। इसमें सामने की ओर सीधे हाथ से तलवार उठाए हुए (उद्यतकृपाणपाणि) सम्राट् सिंह का वध कर रहे हैं।

५. अश्वारोही भाँति—एक ओर अश्वारोही सम्राट् और दूसरी ओर मुंडासन पर देवी।

चित—परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—अजितविक्रमः।

मालव और सुराष्ट्र-विजय के उपलक्ष्य में चंद्रगुप्त ने उन प्रांतों के लिये चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे। उन पर पटदाँव इस प्रकार लेख है—

परमभागवत-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमादित्यस्य।

इसी लेख में 'विक्रमांक' विरुद का प्रयोग भी किया गया है—

श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमांकस्य।

अर्थात् गुप्तवंशी महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त विक्रमांक की मुद्रा।

कालिदास

चिरकाल रसाल ही रहा।
जिस भावश कवींद्र का कहा॥
जय हो उस कालिदास की।
कविता-केलि-कला-विलास की॥

मेघदूत

आदिकवि, व्यास और भासादिक हेतु बहु
करके प्रयास थकी प्यारी कल्पना प्रभूत;
आकर तुम्हारे मनोमन्दिर में कालिदास,
पाकर विराम वह सोई प्रेम पुण्याहूत।
तब उसको भी एक स्वप्न दिखलाई पड़ा
छोटा-सा परंतु बड़ा सुंदर सरस पूत;
चित्र था विचित्र तड़ित्तूलिका से चित्रित सा,
वह था अकृत्रिम तुम्हारा यही 'मेघदूत'।

—मैथिलीशरण गुप्त

भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि-संबंध

प्राचीन भारतवर्ष के चातुर्दिश या अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अंतर्गत पश्चिम में रोमन साम्राज्य से लेकर पूर्व में चीन साम्राज्य तक के देश सम्मिलित थे। इन देशों के साथ समय समय पर भारतवर्ष का प्रणिधि-संबंध लगभग दो सहस्र वर्षों तक जारी रहा। इन दूत-मंडलों की एक अतिसंक्षिप्त तालिका यहाँ प्रस्तुत की जाती है। इस सामग्री के आधार पर भारतवर्ष की चातुर्दिश सजगता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

१—सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में वि० पू० २४६ (ई० पू० ३०३) में सेलेउक जयंत (सिल्यूकस नाइकेटर) के द्वारा भेजा हुआ राजदूत मेगास्थने आया।

२—सम्राट् बिंदुसार के दरबार में ग्रीक शासक अंतियोक त्रातार (एंटिओकस सोटेर) के द्वारा भेजा हुआ दूत डाइमेकस लगभग २२३ वि० पू० (२८० ई० पू०) में आया।

३—मौर्य-सम्राट् अशोक के दरबार में मिस्र के तुरमय (टालमी फिला-डलफस) द्वितीय के द्वारा भेजा हुआ राजदूत आया।

४—अशोक के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि-मंडल सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के शासक अंतियोक (एंटिओकस) द्वितीय (२६१-२४६ ई० पू०) के यहाँ गया।

५—अशोक के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि-मंडल मिस्र के शासक तुरमय (टालमी) द्वितीय (२८५-२४७ ई० पू०) के यहाँ गया।

६—मेसीडोनिया के शासक अंतिकिन (एंटिगोनस गोंटस, ई० पू० २७७-२३९) के दरबार में अशोक के द्वारा भेजी हुई मंडली का नेता महा-रक्षित गया।

७—उत्तर अफ्रीका के शासक मग (मोगस, ई० पू० २८५-२५८) के यहाँ अशोक के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधिमंडल गया।

८—यपरस के शासक अलिकसुंदर (अलेक्जैंडर, ई० पू० २७२-२५८) के दरबार में अशोक का दूत-वर्ग गया।

९—अशोक के द्वारा भेजी हुई धर्म-मंडली महेंद्र गुप्त और संघमित्रा के नेतृत्व में सिंहल (लंका) गई।

१०—अशोक के द्वारा भेजे हुए शोण और उत्तर सुवर्णभूमि (बर्मा) को गए तथा मध्यम कश्यप हैमवत प्रदेश (नेपाल) में भेजे गए।

११—शुंगवंशी आर्द्रक (काशीपुत्र भागभद्र) के दरबार में वि० पू० १०३ (१६० ई० पू०) के लगभग तक्षशिला-प्रदेश के यवन शासक अंतिअलिकद का भेजा हुआ परम भागवत हेलिओदोर नामक राजदूत आया, जिसने बेसनगर में गरुडध्वज स्थापित किया।

१२—भारतीय प्रणिधि-मंडल रोम सम्राट् अगस्तस के दरबार में उपहार लेकर लगभग सं० ३६ (२१ ई० पू०) में गया।

१३—चीन की अनुश्रुतियों के अनुसार, चीन-सम्राट् होती के समय (८९-१०५ ई०) में भारतीय राजदूत चीन गए।

१४—सिंहल के शासक का भेजा हुआ दूत ई० ४१-५४ के बीच रोम-सम्राट् क्लौडिअस (Clodius) के दरबार में गया।

१५—मिलिंदपन्ह के अनुसार, चीन-सम्राट् हिवंती के दरबार में महाक्षत्रप रुद्रदामा के दूत उपहार लेकर सिंधु प्रांत से गए।

१६—लग० सं० १६४ (लग० १०७ ई०) में भारतीय राजदूत रोम-सम्राट् ट्रॉजन के दरबार में गए।

१७—लग० सं० १९५ (लग० १३८ ई०) में रोम-सम्राट् एंटोनिनस के दरबार में भारतीय राजदूत गए।

१८—लग० सं० २४७ (लग० १९० ई०) में अलेक्जैंड्रिया के शासक द्वारा भेजा हुआ पैंटेनस नामक राजदूत भारत आया।

१९—लग० सं० ३९३ (३३६ ई०) में कुस्तुंतुनिया के सम्राट् कांस्टैंटाइन के यहाँ भारतीय प्रणिधि-वर्ग गया।

२०—भारत, मालद्वीप और सिंहल से ३६१ ई० के लगभग जूलियन के यहाँ दूत गए।

२१—सं० ४८५ (४२८ ई०) में भारतीय राजदूत चीन पहुँचा । (चीन के सुंगवंश के अनुश्रुति-ग्रंथों के आधार पर)

२२—सं० ५३४ (४७७ ई०) में पश्चिमी भारत से एक राजदूत चीन-सम्राट् हिओ-वेन-ति के दरबार में पहुँचा ।

२३—वि० ५५९ (५०२ ई०) में किउ-तो (संभवतः गुप्त-शासक ?) के द्वारा भेजा हुआ चु-लोत नामक राजदूत चीन गया।

२४—वि० ५६० (५०३ ई०) में दक्षिण भारत से एक राजदूत चीन-सम्राट् ह-स्यून-वु-ति के दरबार में गया ।

२५—वि० ५६० (५०३ ई०) में मध्यभारत से एक राजदूत उपहार लेकर चीन गया ।

२६—सं० ५६१ (५०४ ई०) में उत्तर और दक्षिण भारत से राजदूत चीन गए। दक्षिण भारत के दूत बोधिवृक्ष की शाखा और भगवान् बुद्ध का दाँत ले गए।

२७—सं० ५६४ (५०७ ई०) में दक्षिण भारत से चीन को राजदूत गए।

२८—सं० ५७२ (५१५ ई०) में दक्षिण भारत से चीन को दूत गए।

२९—सं० ५७५ (५१८ ई०) में उत्तरी वी वंश की चीन-सम्राज्ञी के द्वारा भेजा हुआ सुंग युन नामक दूत पश्चिमी भारत आया।

३०—सं० ५८७ (५३० ई०) में भारतीय राजदूत उपहार लेकर कुस्तुंतुनिया के सम्राट् जस्टिनियन के दरबार में पहुँचे।

३१—सं० ५९८ (५४१ ई०) में भारतीय राजदूत चीन-सम्राट् ताइ-त्सुंग के दरबार में गए।

३२—सं० ६२८ (५७१ ई०) में भारतीय राजदूत भेंट लेकर चीन गए (चीनी अनुश्रुति ग्रंथों में वर्णित)।

३३—वि० ६६४ (६०७ ई०) में सिंहल के हिंदू शासक के दरबार में चीन सम्राट् का भेजा हुआ दूत आया ।

बदले में वि० ६६४ (६०७ ई०) सिंहल के हिंदू शासक ने चीन को दूत भेजा ।
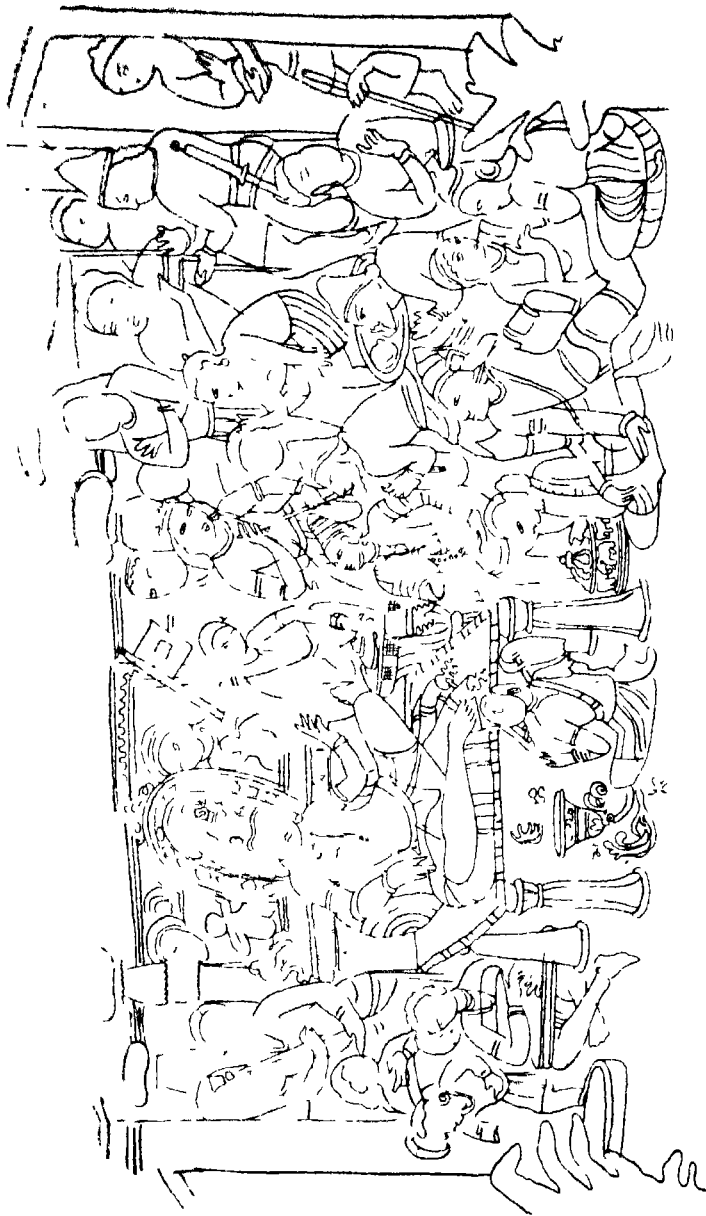
चालुक्य सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर श्री पुलकेशी सत्याश्रय की राजसभा में ईरान के सासानी सम्राट् खुसरो परवेज द्वितीय (५९०-६२८, पहलवी नाम का संस्कृत रूप सुश्रव पर्विजयी) का दूत-मंडल उपहार-सामग्री अर्पित कर रहा है। सम्राट् शरीर-भार को बाहु पर टेके हुए पर्यंकिका पर विराजमान है। तीन ईरानी कुछ झुके हुए (किंचिद-वनत पूर्वकाय मुद्रा में) सामने प्राभृत संभार भेट कर रहे हैं। (यह दृश्य अजंता की चित्रशाला में चित्रित है)

३४—चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन् द्वि० के दरबार में ईरान के सम्राट् खुसरो पर्वेज (५६५-६२५ ई०) का भेजा हुआ दूत आया। [अजंता की पहली गुफा में चित्रित।]

बदले में ईरान के उक्त सम्राट् के यहाँ पुलकेशी के द्वारा भेजा हुआ दूत गया।

३५—वि० ६९८ (६४१ ई०) में हर्ष का ब्राह्मण राजदूत चीन गया।

३६—वि० ७०२ (६४५ ई०) में चीन सम्राट् का प्रणिधि-वर्ग सम्राट् हर्ष के दरबार में आया।

३७—चीन के तंगवंशी सम्राट् चेंग-कुवन (६२७-५० ई०) के दरबार में भारतीय राजदूत गए।

३८—सं० ६८९ (६३२ ई०) में तिब्बत के शासक स्रोङ्-सन्-गंपो द्वारा थोन्-मि संभोट नामक व्यक्ति संस्कृत और बौद्ध साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भारत भेजा गया।

३९—चीन के शासक शेन शाउ के समय (६९०-९२ ई० में) भारतीय प्रणिधि-वर्ग उसके दरबार में गया।

४०—सं० ७०५ (६४८ ई०) में चीन-सम्राट् के द्वारा भेजा हुआ राजदूत वांग-ह्यएंत्से हर्षवर्धन के दरबार में आया।

४१—सं० ७६९ (७१२ ई०) में सिंहल के भारतीय शासक ने अपने दूत अरब के हज्जाज और खलीफा के पास भेजे।

४२—सं० ७७० (७१३ ई०) के लगभग भारतीय राजदूत सम्राट् तंग-सुअन त्सुंग (७१२-७६२ ई०) के दरबार में गया।

४३—सं० ८५२ (७९५ ई०) में उत्कल के राजा शुभकरदेव ने चीनी सम्राट् को गंडव्यूह नामक बौद्ध ग्रंथ की निजी पुस्तकालय की प्रति अपने राजदूत के द्वारा भेजी।

४४—सं० ८२८ (७७१ ई०) में सिंध से एक राजदूत बगदाद के खलीफा अलूमंसूर के दरबार में गया और उसने भारतीय नक्षत्र-विद्या का अरबवालों को ज्ञान कराया।

४५—वि० ८६६ (८०९ ई०) में वैद्यराज माणिक्य बहला नामक वैद्य के साथ खलीफा हारूँरशीद के यहाँ गया और उसकी चिकित्सा कर उसे अच्छा किया।

४६—सुमात्रा और यवद्वीप के शासक शैलेंद्रवंशी बालपुत्रदेव ने मुँगेर के राजा देवपालदेव के पास दूत भेजकर नालंदा के लिये पाँच गाँव दान देने का ताम्रपट्ट प्राप्त किया।

४७—सं० १०११ (९५४ ई०) में दक्षिण भारत के पोलो-होआ नामक राजा के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि मंडल चीन के शासक चि-त्संग (९५४-६० ई०) के यहाँ गया।

४८—लग० सं० १०९० (१०३३ ई०) में राजेंद्र चोल ने भेंट लेकर अपने राजदूत चीन भेजे।

४९—लग० ११३४ वि० (१०७७ ई०) में कुलोत्तुंग चोल ने अपना प्रणिधि-वर्ग चीन को भेजा।

५०—सं० १२८९ (१२३२ ई०) में मध्य एशिया से चंगेज खाँ के पोते बलका खाँ के द्वारा भेजे हुए राजदूत इल्तुतमिश के दरबार में आए।

५१—लगभग सं० १३८७ (१३३० ई०) में मुहम्मद तुगलक ने इब्न-बतूता को अपना दूत बनाकर चीन भेजा।

५२—सं० १४६५ (१४०८ ई०) में आजमशाह ने चीन को भेंट लेकर दूत भेजे।

५३—सं० १४६६ (१४०९ ई०) में गयासुद्दीन ने चीन को दूत भेजे।

५४—सं० १४७२ (१४१५ ई०) में बंगाल के शासक शैफुद्दीन हमजा के दरबार में चीन से दूत-मंडल आया। बदले में हमजा ने सोने के पत्तर पर लिखी चिट्ठी एक जुर्राफे के साथ चीन-सम्राट् के यहाँ भेजी।

५५—लगभग सं० १५५७ (१५०० ई०) में गुजरात के शासक ने मिस्र को राजदूत भेजा।

———

ब्राह्मी लिपि का विकास और देवनागरी की उत्पत्ति

[लेखक—श्री बहादुर चंद छावड़ा, एम० ए०, पी-एच० डी०]

प्रकृत विषय पर ब्यूलर की इंडिशे पेलिओग्राफी और ओझा की 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' आज भी प्रमाण-ग्रंथ माने जाते हैं, यद्यपि उनमें अब बहुत कुछ हेर-फेर की गुंजाइश है। उनके बाद कई विद्वान् फुटकर लेख लिखकर इस विषय पर प्रकाश डालते रहे हैं। साधारण हिंदी-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने एवं इस विषय में उनकी रुचि और जिज्ञासा पैदा करने के उद्देश्य से यह निबंध लिखा गया है। लिपि-विज्ञान-विशेषज्ञों के लिये उपयोगी वाद-विवाद एवं बारीकियों में न पड़कर सरसरी तौर पर भारतीय लिपि-विकास का एक सिंहावलोकन यहाँ किया गया है। अंत में भिन्न भिन्न लिपियों के बहुत से साक्षात् नमूने दिए गए हैं और उनका पाठ उद्धृत किया गया है। विशेष सुझाने लायक बातों को टिप्पणियों में दिया गया है। आशा है, इसके द्वारा इस विषय से अनभिज्ञ पाठकों को ब्राह्मी लिपि के क्रमिक विकास के समझने में आसानी होगी*।

---

* इस विषय में अधिक जानकारी के लिये निम्नलिखित ग्रंथों और निबंधों से सहायता ली जा सकती है—

१—जार्ज ब्यूलर, इंडिशे पेलिओग्राफी। मूल ग्रंथ जर्मन भाषा में है, जिसका अँगरेजी अनुवाद फ्लीट ने किया है। वह इंडियन ऐंटीक्वेरी की ३३वीं जिल्द १९०४ में छपा है।

२—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा-रचित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला'।

३—श्री शामा शास्त्री, ए थ्योरी ऑव् दी ओरिजिन ऑव् दी देवनागरी अल्फेबेट। यह निबंध इंडियन ऐंटीक्वेरी की ३५वीं जिल्द में है (पृष्ठ २५३-२६७, २७०-२९० और ३११-३२१)। इस लेख का आधार तांत्रिक ग्रंथ हैं।

§ १

ब्राह्मी लिपि का विकास सृष्टि के अन्यान्य परिवर्तनशील पदार्थों की प्रगति के अनुरूप ही है। जैसे एक छोटा सा पौदा जलवायु की अनुकूलता पा बढ़ते बढ़ते कालांतर में एक बड़ा भारी पेड़ बन जाता है, वैसे ही भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि साक्षर समाज में मान पा फैलते फैलते आज एक विराट् रूप धारण किए हुए है। यह पौदा इतना बढ़ा कि इसकी शाखाएँ भारत के बाहर भी कई मुल्कों में जा पहुँचीं, और वे आज भी हरी भरी हैं।

सौ सवा सौ साल पहले हम इस ब्राह्मी लिपि के विषय में प्रायः सर्वथा अनभिज्ञ थे। आधुनिक लिपियों के साथ इसका कोई संबंध है, इसकी हमें कल्पना भी नहीं थी। परंतु अब यह प्रमाणित हो चुका है कि आज भारत भर में जितनी भी लिपियाँ* देखने में आती हैं वे सब उस पुरानी ब्राह्मी से ही निकली हैं। किंच, लंका में; जावा, बालि, बोर्नियो आदि सुदूरपूर्व के द्वीपों में; इधर बर्मा, स्याम, कंबोडिया आदि देशों में; एवं उत्तर में तिब्बत, चीनी तुर्किस्तान आदि पहाड़ी देशों में जो लिपियाँ प्रचलित हैं, उनका भी मूल ब्राह्मी लिपि ही है।

४—श्री विष्णु सीताराम सुकथनकर, पेलिओग्राफिक नोट्स। यह लेख रामकृष्ण गोपाल भंडारकर स्मृतिग्रंथ में है (पृष्ठ ३०९-३२२) और इसमें नागरी की उत्पत्ति के काल पर प्रायः विमर्श किया गया है।

५—एच० आर० कापडिया—आउटलाइंस ऑव् पेलिओग्राफी, जर्नल ऑव् दी यूनिवर्सिटी ऑव् बाँबे, आर्ट्स ऐंड लेटर्स सं० ११, जिल्द ६, मई १९३८, पृष्ठ ८७-११०।

६—एच० आर० कापडिया, ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑव् दी नागरी, गुजराती ऐंड मोडी स्क्रिप्ट्स, भंडारकार प्राच्य विद्यामंदिर की मुखपत्रिका, जिल्द १९, भाग ३ (अप्रैल १९३८) पृष्ठ ३८६-४१८।

७—श्री मुनि पुण्यविजयजी, भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखनकला—श्री साराभाई नवाबकृत जैन चित्रकल्पद्रुम के अंतर्गत भूमिका रूप में पृ० १-११८।

* यहाँ उर्दू आदि विदेशी लिपियों की गणना नहीं की गई।

यह सत्य है कि पहले पहले जब हम मूल ब्राह्मी लिपि का आज की किसी भी लिपि के साथ मिलान करते हैं तो हम उनमें तिल-ताड़ का सा अंतर पाते हैं और हमें आश्चर्य होता है कि ब्राह्मी की उन सीधी-सादी रेखाओं से आजकल की पेचीदा लिखावटें क्योंकर निकली होंगी। यह वैषम्य हमें मनुष्य की अपनी विकासलीला की याद दिलाता है। आखिर ब्राह्मी लिपि भी मनुष्य की ही कृति तो है*। मूल ब्राह्मी लिपि से ही देवनागरी, शारदा, बँगला, गुजराती, तेलुगु, तामिल आदि आधुनिक लिपियों के रूप एक क्रमिक विकास के परिणाम-स्वरूप विकसित हुए हैं। सरलता से जटिलता अथवा एकता से विविधता की ओर प्रवृत्ति ही इस लिपि-विकास की विशेषता जान पड़ती है।

§ २

भारतीय लिपियों के अनुसंधान के संबंध में प्रथमत: दो प्रश्नों पर बड़ा तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन होता रहा और वह कई अंशों में अब भी जारी है—एक तो यह कि भारत में लेखन-कला का प्रचार कब से है, और दूसरा यह कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति कैसे हुई। इस विषय में दो मुख्य सिद्धांत हैं। एक पक्ष यह है कि भारत में विक्रमपूर्व सातवीं शताब्दि से पहले लोग लिखना जानते ही न थे और ब्राह्मी लिपि भारत में पश्चिमोत्तर के देशों की लिपियों के आधार पर बनाई गई। इसके विपरीत दूसरे पक्ष के विद्वान् यह मानते हैं कि भारतीय लोग लेखनकला से अति प्राचीन काल से परिचित थे और ब्राह्मी लिपि उनकी अपनी ही कृति है। पहले दल के मुखिया हैं ब्यूलर महाशय और दूसरे दल के अगुआ हैं ओझा जी। इनके मतों का विवरण इन्हीं के ग्रंथों में देखना चाहिए।

ब्यूलर और ओझा ने जब अपने ग्रंथ लिखे थे तब तक मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की मुद्राएँ उपलब्ध नहीं हुई थीं। उन पर जो लिखावट के चिह्न हैं, वे यद्यपि अभी पढ़े नहीं जा सके हैं, फिर भी उनसे कम से कम यह तो सिद्ध होता है कि भारत में उस जमाने में लोग लिखना जानते थे। उक्त विद्वानों को

---

* प्राचीन ग्रंथों में ब्रह्मा को जो ब्राह्मी लिपि का निर्माता माना है वह केवल अर्थवाद है, अर्थात् वह स्तुति-परक है इतिहास-परक नहीं।

यदि इन अभिलिखित मुद्राओं का ज्ञान होता तो वे अवश्य इनसे भी कुछ परिणाम निकालते एवं कुछ और निर्णय देते। किंच, अभी यह कहना भी कठिन है कि मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की लिखावटों का ब्राह्मी के साथ क्या संबंध है। उनका पहले यथावत् पढ़ा जाना आवश्यक है।

ओझा जी ने यद्यपि अपनी अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध कर दिया है कि भारत में लेखन-कला का प्रचार वैदिक युग से रहा है, परंतु उसमें एक दो बातें ऐसी हैं जो नहीं जँचतीं। एक तो यह कि अभी तक जो प्राचीन अभिलेख उपलब्ध हुए हैं उनमें सब से पहले प्राकृत भाषा के ही हैं। अभी तक एक अभिलेख भी संस्कृत भाषा का नहीं मिला जो विक्रमपूर्व तीसरी शताब्दि का हो। वैदिक काल के बाद ब्राह्मण-युग आया, फिर आरण्यक, उपनिषत् इत्यादि ग्रंथ लिखे गए, जो सब शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं। उस समय का कोई शिलालेख या मिट्टी की मुद्रा मिलनी चाहिए जिससे उस युग का लिपि-ज्ञान प्रमाणित हो सके। दूसरे यह कि यावदुपलब्ध अभिलेखों में कुछ एक को छोड़कर अशोक के लेख ही प्राचीनतम ठहरते हैं, और उनकी लिपि के अक्षरों का आकार इतना सादा है कि वे उस लिपि के आरंभिक रूप ही हो सकते हैं। उनमें वह कृत्रिमता या बाँकापन नहीं मिलता जो एक दो शताब्दि बाद के लेखों में मिलना शुरू हो जाता है। हो सकता है कि अशोक-काल से पहले किसी और प्रकार की लिपि या लिपियों का प्रचार रहा हो और बाद में इस नई लिपि का निर्माण किया गया हो, जो अशोक काल में अभी आरंभिक दशा में ही थी। जो भी हो, अभी यह समस्या अपूर्ण ही है।

§ ३

उक्त लिपि की ब्राह्मी संज्ञा सब से पहले जैन ग्रंथों* में पाई जाती है। अशोक के लेख जिस लिपि में लिखे गए हैं वह ब्राह्मी ही है। आगे जो हमने

---

* एच० आर० कापड़िया, ए हिस्ट्री ऑव दी कनोनिकल लिटरेचर ऑव दी जैन्स, पृ० २२८-२९। इसमें 'समवायांग सूत्र' और 'पण्णवणा' के अतिरिक्त और भी कई एक जैन ग्रंथों का हवाला दिया है जिनमें लिपियों के संबंध में उल्लेख मिलते हैं।

लिपियों के नमूने दिए हैं उनमें पहले फलक पर ब्राह्मी अक्षरों के रूप स्पष्ट हैं। इनसे पूरी वर्णमाला तो नहीं बन सकती, परंतु बहुत से वर्ण इनमें आ गए हैं। भाषा प्राकृत होने से ऋ, ऐ, औ आदि का अभाव है। किंतु बाद के लेखों से जिनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत या शुद्ध संस्कृत है उक्त अभाव की बहुत कुछ पूर्ति हो जाती है, और साथ ही कई एक नए संयुक्त अक्षरों के रूप भी स्पष्ट हो जाते हैं, एवं अंकों के चिह्न भी मिलने लगते हैं।

वर्णमाला के क्रम से देवनागरी वर्णों के ब्राह्मी रूप निम्नलिखित हैं। ञ, ढ, श, ष के सिवा अन्य सब अक्षर पहले फलक में आ गए हैं—

अ आ इ उ ए ओ

क ख ग घ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह

मात्राओं के संयोग से इनके जो रूप बनते हैं वे चित्र देखने से और साथ में पाठ पढ़ने से स्पष्ट हो जायँगे।

ऊपर दिए हुए वर्णों के रूप से लिपि की सरलता प्रत्यक्ष है। इनके साथ मात्राएँ जोड़ने का तरीका भी सादा है। का पि पी पु सू के नो जहाँ मात्रा का चिह्न वर्ण के चिह्न के साथ ठीक नहीं जचता, वहाँ उसका स्थान थोड़ा इधर-उधर कर दिया गया है, कहीं कहीं वर्ण का चिह्न मात्रा के चिह्न का सहायक बन गया है वहाँ मात्रा का एकांश लुप्तप्राय हो जाता है। जैसे जि (अन्यथा इसे होना पड़ता)। ञा णे आदि में मात्राओं के स्थान बदल दिए गए हैं।

ब्राह्मी के ये रूप विक्रमपूर्व तीन-चार शताब्दि से लेकर विक्रम-संवत् के आरंभ तक प्राय: ऊपर दिए गए नमूनों के अनुसार मिलते हैं, कुछ थोड़ा बहुत हेर-फेर होता रहा है।

आगे के तीन सौ वर्षों में प्रत्येक वर्ण के आकार-प्रकार में बहुत कुछ अंतर पड़ गया। घ, प, य आदि की लंबी रेखाएँ छोटी हो गईं। अक्षरों के सिर बन गए। मात्राएँ कुछ लंबी तिरछी और गोलाईदार हो गईं इत्यादि। इस युग के बहुत से लेख मिलते हैं जिनमें बहुलांशेन प्राकृत भाषा के हैं। उत्तर में क्षत्रपों और कुषाण राजाओं के लेख, एवं दक्षिण में इक्ष्वाकु और पल्लव राजाओं के लेख इस समय के हैं।

इससे आगे का युग वि० सं० ३००-६०० भारत का स्वर्ण-युग है, जिसमें सभी ललित कलाओं ने खूब उन्नति की। इस युग के लेखों की भाषा प्राय: संस्कृत और वह भी बहुधा पद्य में है। अक्षरों की लिखावट सुंदर है। इस युग की संस्कृति में गुप्त राजाओं का अधिक प्रभाव होने से हम इसे गुप्तकाल कहते हैं और इस समय की लिपियाँ भी प्राय: गुप्त लिपियाँ कहलाती हैं, जिनमें नागरी के आदि रूप मिलने लग जाते हैं। उत्तर में इन्हें गुप्तकालिक ब्राह्मी भी कहते हैं। बाद में इसी प्रकार दक्षिण में भी लिपियों की बनावट पर विशेष ध्यान दिया गया और उनमें सुंदरता लाने का यत्न किया गया। फलत: हमें थोड़े-बहुत भेदवाली अनेक लिपियाँ मिलती हैं जिनकी संज्ञाएँ उनके आकार-विशेष के अनुसार रखी गईं। विदेशी विद्वानों ने उन्हें अँगरेजी नाम दिए थे जो आज भी व्यवहृत किए जाते हैं। एक लिपि के अक्षरों के सिरे त्रिकोण से हैं इन्हें नेल-हेडड अर्थात् शंकुशिरा कहा जाता है। कहीं यह त्रिकोण भरे हुए होते हैं और कहीं खाली। इस लिपि में लिखे गए लेख बहुत कम मिले हैं पर जो हैं वे अति सुंदर और स्पष्ट हैं। हाल ही में बनारस से एक ताम्रशासन मिला है जो इसी शंकुशिरा लिपि में है। इसमें एक शूरवंशीय राजा हरिराज और उसकी प्रधान महिषी अनंत-देवी का उल्लेख है*।

---

* श्री अहिभूषण चट्टोपाध्याय द्वारा प्रकाशित, बँगला की मासिक पत्रिका 'भारतवर्ष', कार्त्तिक १३५० (बंगाली संवत्), पृष्ठ ४०४-०५

दूसरे एक प्रकार की लिपि में अक्षरों के सिरे चौकोन हैं उन्हें बॉक्स-हेडेड अर्थात् संपुटशिरा कहा जाता है। ये संपुट भी कहीं भरे हुए और कहीं खाली हैं। यह लिपि प्रायः वाकाटकों के लेखों में मिलती है। दक्षिण में पल्लववंशीय राजाओं के लेखों की लिपि को पल्लवग्रंथ नाम दिया गया है, कलिंग, और कदंब राजाओं के लेख भी प्रायः इसी प्रकार की लिपि में हैं।

यह वह युग था जब भारत के बाहर भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रचार जोरों पर था। सुदूरपूर्व में और चीनी तुर्किस्तान आदि प्रदेशों में भारतीय लिपियों का प्रचार इसी युग में हुआ।

इसके बाद उत्तर भारत में जो लिपियाँ हुईं उनमें बहुतों को कुटिला नाम दिया गया है। इसी से नागरी और शारदा आदि की उत्पत्ति मानी जाती है। इसके अक्षरों के रूप कुछ लचकदार होने के कारण इन्हें कुटिलाक्षर कहते थे*।

इधर दक्षिण में इसी काल में ब्राह्मी विकसित होते होते तेलुगु-कन्नड आदि लिपियों में परिणत हो रही थी।

§ ४

ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास कैसे हुआ, यह जानने से पहले हम वर्तमान नागरी के स्वरूप की थोड़ी समीक्षा करते हैं। इस लिपि को देवनागरी भी कहते हैं। पंजाब में शास्त्री और महाराष्ट्र में बालबोध एवं दक्षिण में नंदीनागरी भी इसके नाम हैं। कदाचित् शास्त्री, नंदीनागरी और देवनागरी संज्ञाओं से यह अभिप्राय हो कि इस लिपि में संस्कृत अर्थात् देववाणी लिखी जाती है। जो भी हो, हम यह समझकर कि इसमें हिंदी

---

* ब्यूलर ने इस संज्ञा के औचित्य पर आपत्ति की है, परंतु वह भ्रममूलक है। ओझा ने इसका औचित्य माना है, इससे पहले कनिंघम ने भी 'कुटिल' का अर्थ 'सुंदर' लेकर इस संज्ञा को समंजस ठहराया था। ए० इं०, १।७६; कनिंघम, पुरातत्त्व रिपोर्ट, १।२५२-५३; ओझा, प्राचीनलिपिमाला। ब्यूलर कुटिला न कहकर इसे अक्यूट-ऐंगिल्ड अर्थात् कुशाग्रकोणी कहते हैं।

लिखी जाती है इनकी समीक्षा करेंगे। इनकी भिन्न भिन्न संज्ञाओं पर विचार तत्तत् ग्रंथों में किया गया है।

हिंदी भाषा के उपयोग के अनुसार नागरी के कई अक्षर ऐसे हैं जो हिंदी में प्रयुक्त ही नहीं होते, जैसे ॠ, ऌ, ॡ आदि। और आवश्यकतानुसार कई नए अक्षर गढ़े गए हैं, जैसे ख़, ग़, ज़, फ़ जो उर्दू भाषा के शब्दों में आते हैं। इसके विपरीत कुछ उच्चारण ऐसे हैं जिनका द्योतक पृथक् चिह्न नहीं, जैसे फैज़ाबाद, लाहौर, यहाँ ऐ और औ का प्रयोग किया गया है, परंतु उच्चारण अर्ध ऐकार और अर्ध औकार का है; ऐश्वर्य और औदार्य में जैसा इनका उच्चारण है वैसा नहीं।

एक बात और है। आज हम यह समझे बैठे हैं कि आजकल जो नागरी लिपि का रूप है वह स्थायी है; पहले इसमें जितने परिवर्तन हुए सो हुए, अब इसका स्वरूप स्थिर हो चुका है; अब तो छापेखाने बन गए हैं, इससे परिवर्तन की कोई संभावना नहीं। किंतु यह मानना भूल है। इस संसार में सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन होता रहता है, हमें पता नहीं लगता। जब गुप्तकाल में ब्राह्मी का रूप विकसित होकर इतना सुंदर बन गया था तब भी लोग कहते होंगे—अब इसमें अदल-बदल नहीं हो सकता। उन लोगों ने पत्थरों पर खुदवाकर हमारे सामने वे नमूने रखे। तो भी हमें संतोष नहीं हुआ और कुछ न कुछ हम उनमें अपनी ओर से जोड़ते आए। पहले अक्षरों पर सिरे न थे, सो सिरे बाँधे। उन छोटे छोटे सिरों से संतोष न हुआ, तो उनके त्रिकोण बनाए, संपुट बनाए और फिर उन्हें लंबा और चपटा किया, फलतः आज वह नागरी में शिरोरेखा बन गई है। एक प को लेकर इसके विकार देखने पर ⌴ ⌴ ⌴ ⌴ ⌴ प वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया मालूम होता है। आज चाहे यह छापेखाने में आकर स्थिर जान पड़े परंतु इसमें भी परिवर्तन होना शुरू हो गया है। यह देखा जाता है कि आजकल प्रायः लोग अक्षरों की शिरोरेखा नहीं लिखते। शायद हमने चक्र पूरा कर लिया है और अब वापिस ब्राह्मी की ओर मुड़ रहे हैं, सदियों के यत्न से जो शिरो-रेखा बनाई थी आज हम उसे छोड़ते जा रहे हैं।

शिरोरेखा-रहित लिखने से कितनी बचत हो जाती है। अब वैसी लिखावट चालू होती जा रही है। कालांतर में इसकी इतनी प्रसिद्धि होगी कि छापेखानेवालों को झख मारकर इसके नए टाइप बनाने पड़ेंगे। इसमें कोई दोष या हानि नहीं जान पड़ती। अभिप्राय यही है कि लिपि-परिवर्तन को कोई रोक नहीं सकता।

नागरी में कुल मिलाकर कितने वर्ण हैं इसमें भी बहुत कुछ मतभेद है। परंतु प्रयोग में जो वर्ण आते हैं वे सभी हिंदी-पाठकों को मालूम हैं। बारह-खड़ी और वर्णमाला में कई एक ऐसे अक्षर भी हम पढ़ते हैं जिनका प्रयोग नहीं होता। कइयों का प्रयोग संस्कृत शब्दों में ही होता है। नीचे हम साधारण वर्णमाला उद्धृत करते हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ ं :

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

प फ ब भ म य र ल व श ष स ह—

इनके अलावा ॐ क्ष त्र ज्ञ पृथक् चिह्न हैं। ॐ में तो आदि ओ का रूप है, आगे के तीन वास्तव में संयुक्ताक्षर हैं।

किंच, हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कई एक अक्षरों के दुहरे रूप प्रसिद्ध हैं। दूसरे प्रकार के रूपों को जैन नागरी के रूप माना गया है*। परंतु आजकल छापेखानों में और लिखावट में दोनों का मिश्रित रूप से प्रयोग होता है। साधारण साक्षर समाज के लिये दोनों एक ही हैं, इच्छानुसार अ लिखें या ॲ।

§ ५

प्राय: यह माना जाता है कि नागरी की उत्पत्ति विक्रम संवत् की नवीं या दसवीं शताब्दि में हुई। इसका यही अभिप्राय है कि इस समय के लगभग प्राचीन ब्राह्मी क्रमशः विकसित होते होते ऐसी अवस्था पर आ पहुँची कि उसके

---

* भंडारकर प्राच्यविद्या-मंदिर की पत्रिका, जिल्द १६, पृष्ठ ४१३-४१८ पर दी हुई तालिकाएँ देखिए। इनमें जैन और अजैन नागरी का पूरा ब्योरा दिया है, साथ ही मिलान के लिये गुजराती की वर्णमाला भी दी है।

बहुत से अक्षर आज की नागरी के अक्षरों के समान हो गए। लिपियों के नमूनों पर टिप्पणी करते समय हमने जहाँ-तहाँ यह सुझा दिया है कि तत्तत् अक्षरों ने तीसरी-चौथी शताब्दि में ही नागरी का रूप धारण कर लिया था।

अ या अ—इसका आदिम रूप है । चित्रों में दिए गए नमूनों से इसके विकास पर प्रकाश पड़ता है। एक अवस्था ऐसी आई कि इसे ऐसा लिखा गया। तब से आगे

इसी से अ और यदि ऊपर की रेखा केवल आधी रही तो अ, ये सभी रूप नमूने में मिलते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य वर्णों के रूप भी मिलेंगे। सभी को यहाँ आलिखित करके दिखाना अभीष्ट नहीं। बुद्धिमान् पाठक स्वयं ढूँढ़ लेंगे। यहाँ केवल विशेष विशेष बातों पर ध्यान देंगे।

आ या आ—ऐसा प्रतीत होता है कि हम अब अ के आगे केवल आकार की मात्रा जोड़कर ही दीर्घ आ बनाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो यही प्रवृत्ति आरंभ में भी थी। आकार की मात्रा शुरू में एक छोटी सी आड़ी रेखा थी जो वर्ण की दाहिनी बाजू के साथ जोड़ी जाती थी, जैसे

(क, का)। ऊपर हमने यह भी बताया है कि कई एक वर्णों के साथ इसका स्थान कुछ नीचे-ऊपर भी किया जाता था, सो अकार में इसे मध्य में जोड़ा था किंच और और ब्राह्मी लेखों में इसको ऊपर भी जुड़ा पाते हैं जैसे इसके आगे जो इस मात्रा के रूप बने वे नमूनों से स्पष्ट ही हैं। आजकल का कथा T उन्हीं का रूपांतर है।

इ या इ—ब्राह्मी की सारी वर्णमाला में यही एक वर्ण ऐसा है जिसका रूप रेखामय न होकर बिंदुमय था। इसका यह लक्षण बहुत ही विलक्षण है—केवल तीन बिंदु ∴ । किंच, इस वर्ण की लिपि का हठीला पन इससे जाना जा सकता है कि लगभग दो हजार साल तक इसने अपना

बिंदुमतीपन नहीं छोड़ा। ऊपर का बिंदु धनुहियाकार रेखा बन गया, फिर भी नीचे के दो बिंदु बने रहे ~~ । आगे चलकर बिंदु ऊपर और रेखा नीचे, और फिर, जैसा कि पाँचवें पट के चित्र-ग और चित्र-च से स्पष्ट है, इसका रूप करीब करीब नागरी का सा बनने लगा।

ई या ई—इसका रूप भी आरंभ में बिंदुमय था। इसके लिये चार बिंदु थे ∴ । परंतु बाद में ऊपर नीचे के बिंदुओं की रेखा बन गई और रूप हो गया •|• । आजकल तमिळ ई का रूप प्रायः ऐसा ही है, केवल मध्य की रेखा दुहरी की गई है और ऊपर शिरोरेखा है।

हम यहाँ प्रत्येक अक्षर के विकास की समीक्षा नहीं करते, किंतु कुछ एक विशेषताओं पर ध्यान दिलाकर पाठकों को उन लिपियों के नमूने दिखाते हैं जिससे वे विकास का क्रम स्वयं समझ सकेंगे।

ऋ, ॠ आदि के आरंभिक रूप बहुत कम मिले हैं*। इनकी मात्राओं के मिलते हैं, विशेषकर ऋकार मात्रा के।

ऌ, ॡ के रूप भी नहीं मिलते। केवल ऌकार की मात्रा का क्लृप्त आदि शब्दों में जहाँ-तहाँ प्रयोग मिलता है।

ए के उदाहरण बहुत मिलते हैं, और कई एक यहाँ दिए गए नमूनों में भी मिलेंगे। परंतु ऐ के उदाहरण कम हैं। इनकी मात्राओं में यह विशेषता पाते हैं कि जहाँ पहले ये पृष्ठमात्रा के रूप में प्रयुक्त होती थीं वहाँ बाद में ये शिरोमात्रा बन गईं। बँगला, तमिळ आदि लिपियों में अब भी पृष्ठमात्राओं का रिवाज है।

ओ औ में हमने मूल रूपों को भुला दिया है। अब केवल अकार के चिह्न पर उनकी मात्राओं के चिह्न लगाकर काम चलाते हैं। गुजराती में ए

---

* चीनी तुर्किस्तान और जापान में जो मध्ययुगकालिक भारतीय लिपि की वर्णमालाएँ मिली हैं वे पूर्णप्राय हैं और उनमें ऐसे ऐसे विरल प्रयोग वर्णों के रूप भी मिलते हैं।

और ऐ के विषय में भी यही बात है। शुरू शुरू में ओ के रूप मिलते हैं, परंतु औ के नहीं। ओझा जी का कहना है कि औ पहले पहल मंदसोर से मिले हुए यशोधर्मन् के वि० सं० ५८९ के शिलालेख में मिलता है*। तीसरे फलक के चित्र—क में जिस लेख का नमूना दिया है वह यशोधर्मन् के लेख से पहले का है और इसमें औ का प्रयोग मिलता है। नागरी में अब मूल ओ का रूप यदि मिलता है तो वह ॐ में है।

ङ में बिंदु बाद में आया।

द और ध में पहले के और बाद के रूपों में दिशा बदली गई है।

पहले के रूप हैं ➝ ↄ D। बाद में ये ꝺ ◁ बने, और आगे रूपांतर।

बाकी के रूप इसी प्रकार चित्रों द्वारा स्पष्ट हो जायँगे।

चित्रों में दिए गए लेखांशों के पाठ और उनपर लिपि-संबंधी टिप्पणियाँ

फलक १ला—

चित्र—क :—

१ -न पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभि-
२ -गाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्य-
३ -डभी चा कालापित सिलाथभे च उस-
४ -वं जाते ति लुंमिनिगामे उबलि-

हुल्श, अशोक लेख पृ० १६४

चित्र—ख :—

१ -हेवं आह सडुवीसतिवसाभिसितस मे इ-
२ -लिक अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे
३ -ठिकमछे वेदवेयके गंगापुपुटके सं-
४ -ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गाम-

* भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ६४।

५ -दियति अजका नानि एडका च सूकली च ग-

६ -सिके वधि कुकुटे नो कटविये तुसे सजीवे नो

७ -झापयितविये जीवेन जीवे नो पुसितविये

८ -वुदसं पंनळसं पटिपदं धुवाये च अनुपोसथं

—हुल्श, अशोक लेख, पृ० १२५-१२६

चित्र—ग :—

१ इयं सासने भिखुसंघसि च भिखुनि-

२ आहा हेदिसा च इका लिपी तुफाकंतिकं

३ समेव उपासकानंतिकं निखिपाथ ते पि

४ विस्वंसयितवे अनुपोसथं च धुवाये

५ सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च

६ तुफे एतेन वियंजनेन हेमेव सवे-

— अशोक लेख, पृ० १६१-१६२

चित्र—घ :—

१ -यति]

२ -रं सातिरेके] तु खो संवछरं

३ -माना मुनिसा जंबुदीप [सि

४ -पोतवे कामं तु खो खुदकेन

५ -य] इयं सावणे सावापितं

६ -रठिती [के च इयं

—अशोक लेख पृ० १७५-१७६

फलक १ला – ब्राह्मी के प्रायः आरंभिक रूपों का दिग्दर्शन

चित्र-क :—ख का रूप देखने योग्य है। मध्य की रेखा खूब लंबी है। परंतु कय में देखिए इसे छोटा होना पड़ा। जि में इकार की मात्रा के रूप में आड़ी रेखा का अभाव है, केवल खड़ी रेखा से काम लिया गया है। भ के साथ इकार की मात्रा के योग से एक विचित्र रूप बन गया है—जैसे एक सीढ़ी हो। जा में आकार की मात्रा जोड़ने से पहले एक घुंडी सी बना दी है ताकि वह पृथक् दीख पड़े। परंतु चित्र-ग में जो जा है उसमें यह बात नहीं, तो भी पढ़ने में वहाँ भी भ्रम नहीं होता। तीसरी

सतर में पहला अक्षर ङ है। इसके रूप में और भ के रूप में अंतर देखिए। ङ में नीचे जो खड़ी रेखा है उसकी दाहिनी ओर एक और खड़ी रेखा जोड़ने से भ बन जाता है। वं में जो अनुस्वार है वह व के कंधे पर है, परंतु लुं में इसे नीचे रखा गया है। नियम रूप से इसे अक्षर के ऊपर या कंधे पर आना चाहिए।

चित्र—ख :—यहाँ ङु और धु में उकार की मात्रा का रूप आड़ी रेखा से बना है जो प्रायः खड़ी रेखा से बनाया जाता है। चित्र—ग में जो धु है उसमें उकार की मात्रा को खड़ी रेखा से ही दिखाया है। क और र आदि अक्षरों के साथ इसे अगत्या आड़ी रेखा से ही दिखाना पड़ता है। छठी सतर में कु को देखिए। खे में ख का रूप देखिए। इसमें दाईं ओर की रेखा के निचले सिरे पर घुंडी है जो कि चित्र—ग को खि और चित्र घ के खु और खो में स्पष्ट है, परंतु चित्र—ग की पहली सतर में जो दो बार खु आया है उसमें घुंडी एक वर्तुल में परिवर्तित हो गई है या यों कहो कि

बिंदी का कंगन बन गया है— से । इसे विकास की पहली

सीढ़ी समझो और आगे इत्यादि,

जिससे नागरी के ख की उत्पत्ति ठीक समझ में आ सकती है। ठ और

थ के रूपों में अंतर क्या है, केवल एक बिंदु, और दोनों

इस चित्र में मिलते हैं। और यदि उस बिंदु के बजाय धनुष पर बाण की

भाँति एक खड़ी रेखा रख दें तो छ का रूप बन जाता है, ।

यह भी प्रस्तुत चित्र में मिलता है। चौथी सतर का पहला अक्षर ओ है। डे का रूप देखने लायक है। और फिर सू का। व्यंजन के ऊपर जैसे एक खड़ी रेखा इकार मात्रा और दो खड़ी रेखाएँ ईकार मात्रा की द्योतक हैं वैसे ही व्यंजन के नीचे एक खड़ी रेखा उकार मात्रा और दो खड़ी रेखाएँ

ऊकार मात्रा की व्यंजक हैं। यहाँ जो सू है वह बाद के किसी संस्कृत लेख में हो तो स्त भी पढ़ा जाए, परंतु लेख प्राकृत भाषा में है जिसमें संयुक्त अक्षरों का प्राय: अभाव है, सो यहाँ वैसा भ्रम नहीं उठता। आगे दूसरे पट के चित्र—ग में इन मात्राओं के क्रमिक विकास के आरंभिक रूप देखिए— श्रीमान्यूप: समुछ्रि(च्छ्रि)त:। प्रकृत चित्र में नो और पो में जो ओकार मात्रा है उसका मिलान चित्र-ग के पो और चित्र-घ के खो और पो में की ओकारमात्रा से कीजिए। सातवीं सतर का पहला अक्षर ष्ठा है।

चित्र-ग : - यहाँ घ, फ और ह एवं स्वं के रूप दर्शनीय हैं। इस लेख की इकार मात्राओं में कहीं कहीं थोड़ी सी गोलाई आ गई है।

चित्र-घ : - इसमें र का रूप एक तरंगमयी रेखा से बना है, जो प्राय: इस समय के अन्य लेखों में एवं कुछ समय बाद के लेखों में भी एक खड़ी सीधी रेखा मात्र है। दूसरे पट के चित्र-घ की तीसरी पंक्ति में रु को देखिए। किंच ज के रूप में भी यहाँ कुछ विलक्षणता आ गई है। तु में उकार मात्रा कुछ ऊपर को जोड़ी है। इसका मिलान चित्र-ग में आए तु से कीजिए।

फलक २रा

चित्र-क : —

१ श्रीमान्यूप: समुछ्रि(च्छ्रि)त: ४
२ -नग्निष्टोमात्तु पंचमम् ५
३ प(ष)ष्ठस्तु प्रथमात्क्रतो: ६
४ -मग्निष्टोमात्तु सप्तमम् ७

एपि० इं० २४, २५०

चित्र-ख :—

१ असमेधयाजिस अनेकहि-
२ -स] सवथेसु अपतिहतसंक-

एपि० इं० २०, १७

चित्र-ग :—

१ सहा उपझायेन धर्म-
२ -तेवासिनिहि शिरिवि-
३ -महे सर्वबुधपुजा-

एपि० इं० १९, ६७

चित्र घ : —

१ -जस्य श्री भद्र मघस्य
२ ८० ७ वर्प पत्त तृतीय
३ एतय पुरुवाय पल्ला-
४ -ग्रेहि सौदार्य्येहि भ्रातृहि
५ -य षरढकेन च पु-

एपि० इं० २३, २४८

फलक २रा—वि० सं० १-३०० में ब्राह्मी का विकास

चित्र-क :—यह लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में है और विक्रम-संवत् की प्रथम-द्वितीय शताब्दि का है। इस काल के उपलब्ध लेख बहुधा प्राकृत भाषा में हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, यहाँ इकारादि मात्राओं के रूप कुछ विकसित हो गए हैं। सीधी खड़ी रेखाएँ यहाँ बाँकी टेढ़ी हो गई हैं। परंतु आकार की मात्रा के रूप में कुछ अंतर नहीं पड़ा। न्यू का रूप देखिए। यहाँ य का रूप नहीं बदला। पहले पट के चित्र-क के कय में भी यही बात पाई जाती है। परंतु काल-क्रम से अधःस्थ य की बनावट बदल गई है, जैसे चित्र-ग में स्पष्ट है। प, च आदि की ऊर्ध्व रेखाएँ छोटी हो गई हैं। म और म् में यही अंतर है कि दूसरा पंक्ति के कुछ नीचे लिखा गया है। आगे चलकर इसका आकार भी कुछ छोटा कर दिया गया है। हलन्त (स्वरशून्यता) के चिह्न का प्रयोग बहुत बाद में होने लगा। त्क का रूप अति विचित्र हो गया है। इसमें सभी व्यंजन ज्यों के त्यों एक दूसरे के ऊपर रखे गए हैं। फलतः इस अक्षर की लंबाई इतनी बढ़ गई है कि इसका निचला सिरा आगे की पंक्ति में जा घुसा है और वहाँ उसने एक अक्षर की जगह ले ली है।

इस काल में सभी अक्षरों के सिरे बँध गए हैं। इससे पहले भी सिरे बँधे मिलते हैं।

प्रकृत लेख में १ से ६ तक अंकों के चिह्न भी मिले हैं, चित्र में ४, ५, ६ और ७ के अंक आए हैं।

चित्र ख :—दक्षिण भारत में ब्राह्मी के रूपांतर कैसे बनने लगे इसका भान यहाँ मिलता है। अक्षरों में लंबी लंबी पूंछड़ी शोभा के लिये लगाई गई है,

परंतु आगे चलकर कुछ अंश में यह उन उन अक्षरों के स्थायी अंग बन गई है। नीचे के मोड़ बढ़ते बढ़ते पृथक् रेखाएँ बन गई हैं, तीसरे फलक के निचले चार चित्रों में देखिए। दूसरी पंक्ति में जो सु है उसे श्र भी पढ़ सकते हैं। त की बाईं ओर छिद्र सा बन गया है जो तत्कालीन लिपि में बिना कलम उठाए लिखने का परिणाम था।

चित्र ग: - यहाँ आ, इ, ए आदि की मात्राएँ कुछ तिरछी हो गई हैं। पु और बु में जो उकार मात्रा है उसे दाईं ओर की खड़ी रेखा के नीचे जोड़ा है, पहले फलक में जो इनके रूप आए हैं उनसे इनका मिलान कीजिए। र्म और र्व में रेफ को पंक्ति के ऊपर रखा है, जैसे नागरी में होता है। परंतु शारदा आदि लिपियों में ऐसा नहीं, चौथे फलक के चित्र-च में देखिए।

चित्र घ :--श्री में ईकार मात्रा की बनावट देखिए। यहाँ भी वही दो रेखाएँ हैं जो चित्र-क के आरंभ के श्री में हैं, परंतु यहाँ उन्हें ऊर्ध्व धनुष के रूप में रखा है। म का रूप यहाँ बहुत कुछ बदल गया है। इसे उत्तरी म कहते हैं। कुषाणकालिक लेखों में भी यही मिलता है। आ और इ की मात्राएँ आगे से मुड़ भी गई हैं—नागरी की ओर झुकाव शुरू हो गया। श्रे में एकारमात्रा इकार मात्रा से भिन्न नहीं। एढ में ढ की शकल देखिए बिलकुल आजकल की नागरी के ढ जैसी है।

फलक ३रा

चित्र क :—

१ -ण्यामिन्द्रभट्टारिकायामुत्पन्नः
२ -णान्वितायाः औदार्य्यचातु-
३ चारुकान्तिः शैलेन्द्रपुत्र्या इव
४ -त भुक्तेजोज्वलस्नेहवांस्सद्वृ
५ णोन्नति। दृष्टः साधुसुखोद-
६ -धामध्वरसंस्थितेव सुहुत-
७ -पुद्गुमैरविरलैर्भर्म(र्भे)ग्नैः सम
८ -व्याकि(कु)ल्य विस्फूर्जिता। यस्यैव-

एपि० इं० २७,...(प्रकाश्यमान)

चित्र ख :—

१ पुण्याभिवृद्धये भारद्वा-
२ स्वा]मिने प्रतिपादितास्तदे-
३ -ज्ञा] स्वयं । उक्तञ्च धर्म्मशा-
४ -गरादिभि र्यस्य यस्य यदा
५ लि]खितं महासान्धिविग्रहि-
६ -कृत्तर

एपि० इं० २३,२००

चित्र ग :—

१ पयति सर्व्वानेवास्मत्सन्त
२ नीयोस्मि शाण्डिल्यसगोत्र-
३ लिमकतल्लवाटके आर्य्य-
४ कर्तारककालीयं पुत्र [पो-
५ भिक्कुतः नङ्गस्यो चितया
६ पयतश्च: सर्वरेखा
७ महाराज श्रीस्वामिदासस्य

एपि० इं० १५, २८९

चित्र-घ :—

१ अपुप्फक्खिरगहण । अपरम्पर गोबलिव-
२ अचम्मङ्गालिक । अभडप्पावेस अखट्टाचोल-
३ अ] करद । अवह । सणिधि । सोपणिधि । सकुतु-
४ -रण । सात्रजातिपरिहार परिहितञ्च जतो ड [प-
५ वा] दम्पमाणं करेत्ता रक्खध रक्खापेध य परि [ह-

एपि० इं० २६, १५३

चित्र-ङ :—

१ -धिष्ठाने परम ब्रह्मण्यस्य स्व [बा-
२ -विहित सर्व्वमर्य्यादास्थितिस्थित-

३ -कवीरस्य श्रीवीरवर्म्मणः प्र-

४ -पोपनतराजमण्डलस्य भ-

एपि० इं० २४, ३०१

चित्र-च :—

१ -दत्ताम्परदत्तां वा यत्नाद्र-

२ -क्ष दानाच्छ्र योनुपालनं

३ -दिवि भूमिदः आक्षेप्ता चा-

४ -वर्द्धमान विजयराज्य संव

५ -त्सर्यां । इदं विनयचन्द्रेण

६ -ङ्ख्हस्य लिखितं स्वमुखाज्ञया

एपि० इं० २३, ६६

फलक ३२रा—वि० सं० ३०१-६०० में ब्राह्मी-शंकुशिरा और संपुटशिरा रूप

चित्र-क :—यह शंकुशिरा लिपि का नमूना है। इसमें दक्षिणी विशेषताएँ अधिक हैं। दूसरी पंक्ति में औ का रूप देखने योग्य है।

चित्र-ख :—इसकी लिखावट सुडौल नहीं, परंतु पूर्वीय गुप्तकालिक लिपि का यह अच्छा नमूना है। तीसरी पंक्ति में उ का रूप देखिए, नागरी के उ के रूप से मिलता-जुलता है।

चित्र-ग :—यह संपुटशिरा लिपि का नमूना है, इसमें संपुट भरे हुए हैं। तीसरी पंक्ति में ट नागरी के ट जैसा ही है, केवल संपुट के बजाय आड़ी रेखा होनी चाहिए। इसी पंक्ति में आ का चिह्न देखिए। चौथी सतर के आरंभ में र्क है उसमें रेफ पर भी संपुट बनाया है। यही बात र्व्व में भी पाई जाती है।

चित्र-घ :—यह भी संपुटशिरा लिपि का निदर्शन है। परंतु इसके संपुट खाली हैं। भाषा प्राकृत है। संयुक्त अक्षरों में जो नीचे का व्यंजन है उसका संपुट भी प्रायः सर्वत्र पृथक् दिखाया है जैसे ग्ग, म्म, क्क, ट्ट आदि में किंतु प्फ, म्प आदि में नहीं।

चित्र-ङ :—यहाँ संपुटशिरा और शंकुशिरा का मिश्रण है, शंकु और संपुट दोनों छोटे छोटे हैं। अक्षरों की बनावट में सुंदरता लाने का यत्न किया गया है। ष्ठा में ष् और स्थि में थ् का रूप देखने लायक है।

चित्र-च :—संपुटशिरा का रूपांतर। संपुट भरे हुए। आकार मात्राओं पर ध्यान दीजिए, जैसे हम नागरी में आजकल कन्ना लगाते हैं प्रायः वैसे ही है। ह्रा और त्ता आदि अक्षरों में यह अक्षर के बाएँ सिरे से जोड़ा गया है, परंतु मा में देखिए। क्ष का चिह्न अभी तक पुराना ही है, जिसमें क् और ष के अंश ठीक पहचाने जा सकते हैं, जैसे दूसरे फलक के चित्र-च में भी हमने देखा है। इसका विलक्षण चिह्न बाद में बना। न और ण की बनावट में भेद देखिए।

पट ४था

चित्र-क :—

१ कपर्द्दी पृथुनि परिलुठन्ती यस्य मू [र्द्ध-
२ न क्रमः परिमिति स्वान्पुत्त्रकान्पाठ-
३ चीणाङ्हंसा जज्ञिरे येऽासन्तति स-
४ वृत्तिः । बलविभव विलासस्यग-

एपि० इं० २३, २६०

चित्र-ख :—

१ -भुवनाधिपते शकलशशाङ्क [शे-
२ -स्युत्पत्ति प्रलयकारणहेतोर्म्म हे [न्द्रा-
३ -सिनस्य भिगोकणेश्वरस्वामि-
४ -मलारा धनादवाप्त पुण्यनिच-
५ -लाविरेन्दु स्वभुजबलपराक्[मा-
६ -गाधिराज्य शक्तित्रयप्रकर्षानु-
७ -सन्तपरममाहेश्वरो माता-

एपि० इं० २४, १८१

चित्र-ग :—

१ तस्य तदा फलं ॥ यानीह दत्तानि पु [रा
२ -प्रतिमानि तानि । को नाम साधु ✕ पु-
३ -पा महिं महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छे [यो-
४ -चिन्त्य मनुष्य जीवितं च । अतिविम[ल-
५ -ल्या इति ॥ दूतकोत्र श्रीदुर्गा रा-
६ -म्मम श्री जगतुङ्ग देवसुत [स्य
७ -खितं ॥ मतम्मम श्रीमदि-
८ -रि लिखितमिति ॥

एपि० इं० २२, ८५

चित्र-घ :—

१ -घा] त ॥ बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभिः स [ग
२ -रत] स्य तस्य तदा फलं ॥ यानीह दत्तानि पुरा
३ निर्भुक्तमाल्यप्रतिमानि तानि को नाम साधुः [पु-
४ -न] रा नराधिप । महीं महीमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रे-
५ -लो] लां श्रियमनुचिंत्य मनुष्यजीवितञ्च । स-
६ -कीर्त्तयो विलोप्या इति ॥ परमभट्टारक म-
७ -महाराजवर्ष श्रीध्रुवराजदेवप्रहितभट्ट [हे-
८ लिखितञ्चैतत्परमेश्वराज्ञया बला [धि-
९ -हा] शब्द महासंधिविमहाधिकृतसामन्ता श्री-

एपि० इं० १०, ८८

चित्र ङ :—

१ -या] दोष्णा च यो भुव-
२ अतिरणचण्डः

एपि० इं० १०, १४

चित्र-च :—

१ -म]हाराज्ञी श्रीका[मे-
२ कर्म पति उ-
३ -यैद्विजोः ॥ [पं-
४ ......[ञ्चाणः] ॥

एपि० इं० २२, ९८

फलक ४था :— वि० सं० ६०१-९००, कुटिला, शारदा आदि

चित्र क :—इसमें कुटिला और नागरी का मिश्रण समझिए। अर्थात् कुटिला से नागरी के अक्षर बनने लग गए हैं और बहुत से तो आजकल के नागरी अक्षरों से मिलते हैं। यह लेख विक्रम-संवत् की आठवीं शताब्दि के उत्तरार्ध का है। क बिल्कुल नागरी का सा है। प में कुछ बाँकापन है, जिससे यह य की आकृति लिए है। परंतु त्पृ में यह भ्रम नहीं उठता। र्हा, र, नि, मि, मू आदि कई एक अक्षर नागरी के से हैं। नहीं हैं तो थु, ण, ज, भ,ात्या आदि।

चित्र-ख :—यह दक्षिणी लिपि के विकास का रूपांतर है। इसमें श, ल, स, ष आदि अक्षरों में दक्षिणीपन पाया जाता है।

चित्र-ग :—यह भी दक्षिणी लिपि के विकास का एक रूपांतर है। नीचे की पंक्तियों में आए अक्षरों के सिरों पर जो ऊर्ध्वधनुष समान रेखा है यह तेलुगु-कन्नड़ा की विशेषता है। पाँचवीं सतर में दू का रूप देखिए। इसका मिलान तीसरे फलक के चित्र-च की तीसरी सतह में आए भू से कीजिए।

चित्र-घ :—इसमें के बहुत से अक्षर नागरी से मिलते हैं। स्वरशून्य त् का रूप विलक्षण है, यह पहले के कई लेखों में भी मिलता है और बाद में भी, पाँचवें फलक के चित्र-ख में देखिए। यहाँ इकार का रूप बदल गया, दो बिंदु नीचे के बजाय ऊपर आ गए हैं।

चित्र-ङ :—यह दक्षिण में नागरी का सबसे पहला लेख समझना चाहिए। द, ष, व आदि बिल्कुल नागरी से हैं।

चित्र-च :—यह शारदा का निदर्शन है। र्म और र्य के रूप ध्यान देने योग्य हैं। वकार के सिर भी आड़ी रेखा है।

फलक ५वाँ

चित्र-क :—

१ -न्द्रानुपहसितो रावणियेन ॥ सौजन्यस्य निधिर्द्वया-
२ जा] ततस्याः सुतः पृथुप्रश्रयः। चामुण्डराजनामा प-
३ रूपं वपुर्जीवितं विष्णोः कारयते स्म मन्दिरमिदं हे-
४ -ला] मपि मधुरिपुर्न्निजां प्रतिमां। मुंचति न च रम्भा[द्याः
५ -स्ता]भिः सिद्धं तया दत्तं॥गोमपुरनागपल्ल्यौ द्वौ ग्रामौ च-
६ -क्र] ता व्यवस्था राज्या श्रीचित्रलेखया भक्त्या ॥ महारा[जा-
७ -रा] रे: ॥ एके वर्षसहस्रे द्वादशभिर्व्वत्सरैर्युते मा[घे
८ -अलुवद्रकनामानं ग्राममस्मै रविग्रहे। इन्द्र-

एपि० इं० २२,१२४

चित्र-ख :—

१ :॥ तद्भक्तिवलितशक्तिर्भुजद्वयो-
२ -धर्मकरत: ख्यातः श्रीभद्रद्-
३ पुराणरामायो(य)णार्थवित्तनय:
४ -न्वयो यो भूत् ॥ तस्य गौरी म-
५ -न्द्ररतिर्नाम या वं(ब)भूव शिवप्रि-
६ लै] रार्द्रीकृतोर्जेद्भुजस्फूर्जद्रूज्व-
७ महान्। सौम्यः सूनृतवागरा-
८ -स्ना] हारतुषारकुन्दधवलं यो या-

एपि० इ० २७,...(प्रकाश्यमान)

चित्र-ग :—

१ रो] हिणीभसमये रात्रेश्च यामत्रये। श्रीमद्रत्ननरेश्वर[स्य
२ -ज्ञा] नदी ॥ १९ ॥ इंद्रोम्मुक्तिं कुर्व्वतायं तदानीं सर्व्वदायैर्म्म-
३ -२० ॥ तपति न तपनः प्रखरो मरुदपि नो वाति शासने तीव्रः

४ -प] तो लोकसाक्षिणौ। तावदभ्याहतं स्थेयाद्दानमेतन्महीप-
५ -श्च] दानमानार्च्चनादिभि: ॥ २३ ॥ यैः कृतः सर्व्वभक्षोग्निर-
६ -४ ॥ सं(शं) खं भद्रासनं च्छ(छ)त्रं गजाश्व(श्व)वरवाहनम्।
भूमिदानस्य।
७ -। यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ २६ ॥ य[था-
८ ॥ २७॥ भूमिं यः प्रतिगृह्णा(ह्णा)ति यस्तु भूमिं प्रयच्छति। उ[भौ
९ -त्तावग्न पुरंदर। मही(हीं) महीभृतां स्त्रे(श्रे)ष्ठ दानाच्छ्रेयो हि पा-
१० -भूं] त्वा पितृभिः सह पच्यते ॥३०। अस्व(श्व)मेधसहस्रे(स्रे)ण
११ -ष्टिं] वर्षसहस्रा(स्रा)णि स्वर्गे वसति भूमिदः आच्छेत्ता चानुम-

एपि० इं० २७,१६६

चित्र-घ :—

१ -१५ अद्येह काल इला-
२ -स्तराजावलीविराजि-
३ -: स्वभुज्यमानधाणदा-
४ -न् जनपदांश्च बोधय-
५ -रोयणपर्वणि महेश्व

एपि० इं० २१,१७२

चित्र-ङ :—

१ -क] न्द्रः। अमृतमयकलाभिः स्ना [लि-
२ -जि] नानां। येन भ्रमत्यविरतं प्र [ति-
३ -ने च पुरे जिनस्य दीपङ्करस्य प्र [ति-
४ -त्सो] मपुरे चतुर्पु लयनेष्वन्तवे [हि-
५ -तुं]। इत्यादि पुण्यक्रियया सका-
६ -द] रोयमुन्मीलति। यस्यां विस्मृत-

एपि० इं० २१,६६

चित्र-च :—

१ -राणां विजये शंभोः कतिचि-
२ -दोद विंदवः। कदंवतलमा-

३ -अस्समभव स्थैर्यधैर्यधरो
४ -र स्कंद इवापरः त्रिलोचन-
५ -स नागवल्लीकलिते कद-
६ -सं विलास वसतिश्चिरं । त-
७ -र्म्मेल: । अम्लान कमलोल्ला-

एपि० इं० २७,...(प्रकाश्यमान)

फलक ५वाँ—वि० सं० ९०१-१२००, नागरी

चित्र क :—अभी यहाँ नागरी का रूप कई अंशों में परिपक नहीं हुआ। ख, ध, ज, भ आदि अक्षरों की बनावट पुरानी है। अंतिम पंक्ति में इकार को देखिए। इसका रूप चौथे पट के और इस पट के चित्र-घ में के इकार के तुल्य है। परंतु आगे चलकर फिर पुराना रूप भी मिलता है जैसे चित्र-ङ में। चित्र-ग और चित्र-च में जो इकार हैं वे और भी विलक्षण हैं। बात यह है कि इसकी चूलें हिल रही हैं, इसके बिंदुओं को नीचे ऊपर और आगे-पीछे सरकाया जा रहा है, फलत: आगे चलकर नागरी का बिंदु-रहित इकार बन जाता है।

चित्र-ख :—यह लेख आसाम से आया है सो इसमें पूर्वीय विलक्षणताएँ हैं जो बंगाली से भी मिलती हैं।

चित्र-ग :—यहाँ से नागरी का रूप प्राय: परिपक्व हो गया है। सिर पर की लकीरें पूरी हो गई हैं। अ और आ के रूप देखिए, इस प्रकार ख, क्ष आदि के भी। इकार के विषय में ऊपर चित्र-क की टिप्पणी में कह आए हैं। उकार पूरा नागरी उकार बन गया है। पृष्ठमात्राओं का प्रयोग अभी जारी है।

चित्र-घ :—यहाँ अ का रूप असाधारण है। ज का रूप नागरी ज से मिलने लगा है। तीसरी पंक्ति में जो ण है उसके सिर पर आड़ी रेखा नहीं, परंतु पाँचवीं पंक्ति में जो हैं उनके सिर पर है। रो में पृष्ठमात्रा का प्रयोग नहीं किया गया, दे और थे में किया गया है।

चित्र-ङ:—इसमें अक्षर बड़े यत्न से उत्कीर्ण किए गए और खूब सुडौल और सुंदर बनाए हैं। यहाँ अ का रूप देखिए। उकार और एकार की मात्राएँ बड़ी छोटी रखी हैं, चौथी पंक्ति में तु में उकार की मात्रा स्पष्ट है।

चित्र-च:—यहाँ भी रो में पृष्ठमात्रा का प्रयोग नहीं, बाकी भो, धै, लो आदि में है। यहाँ का अकार पूरा नागरी का अकार है।

——

फलक १

ब्राह्मी के प्रायः आरंभिक रूपों का दिग्दर्शन

क

ग
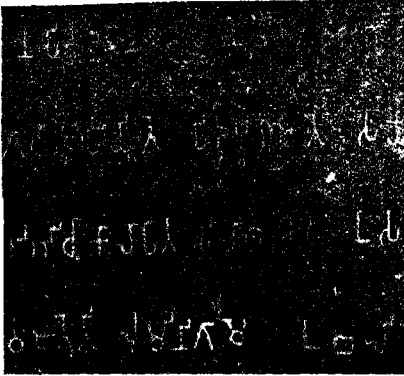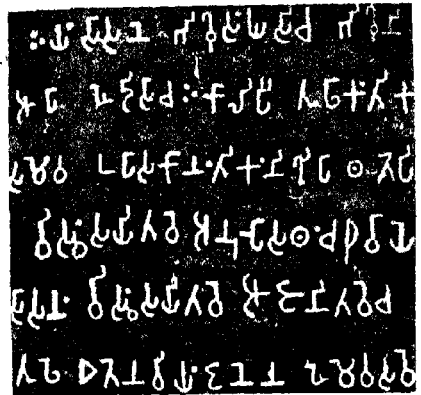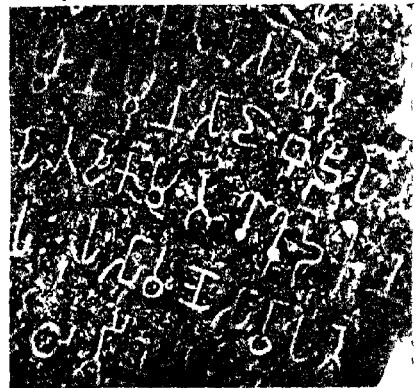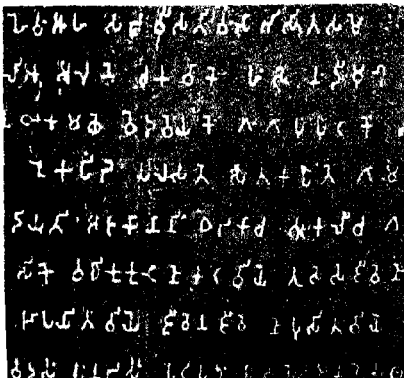
फलक २

वि० सं० १—२०० में ब्राह्मी का विकास
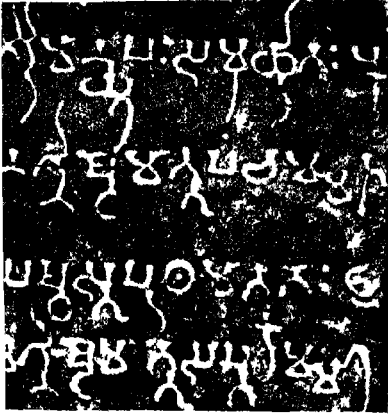
क
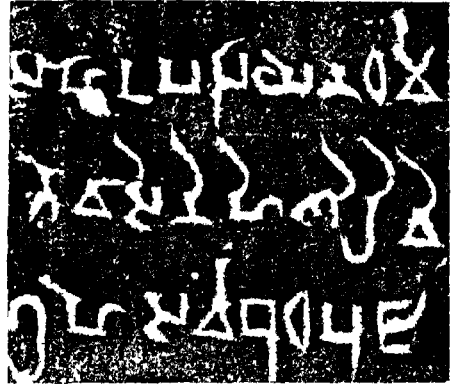
ग

ख
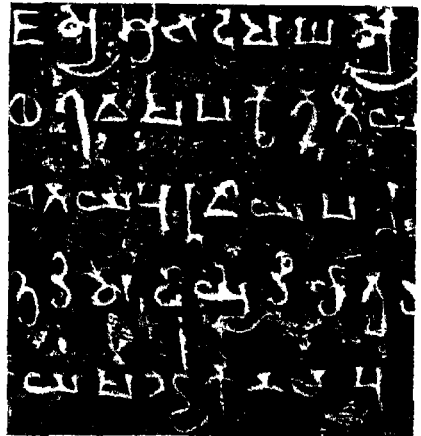
घ

फलक ३

वि० सं० ३०१—६०० में ब्राह्मी, शंकुशिरा, संपुटशिरा

क

घ

ख

ङ
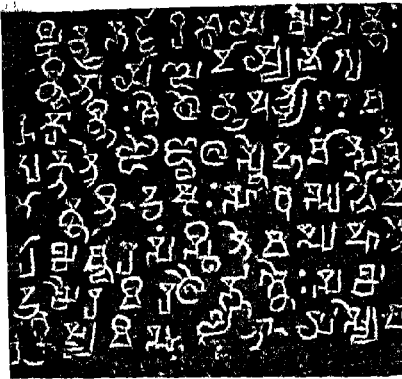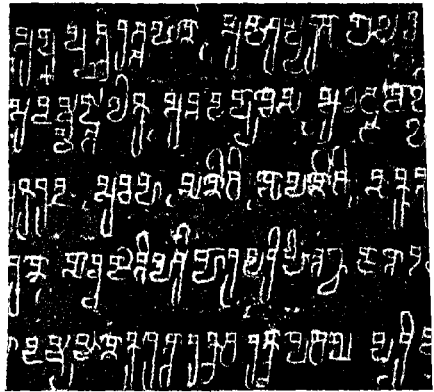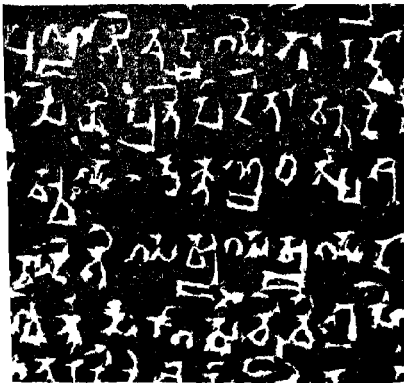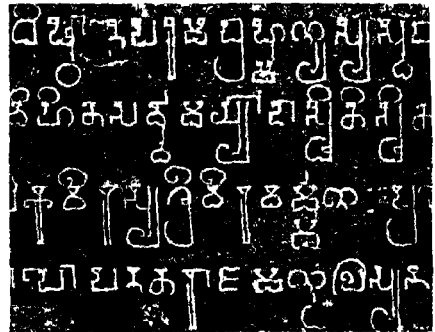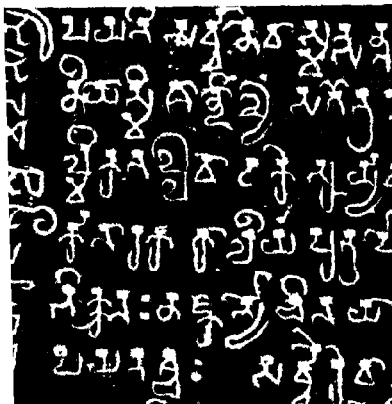
ग

—
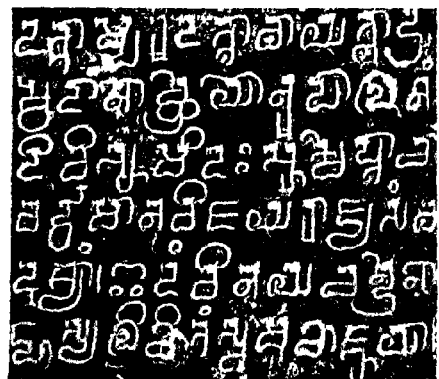
फलक ४

वि० सं० ६०१—६००; कुटिला, शारदा आदि

क

घ

ख

ङ

—

फलक ५

वि० सं० ९०१—१२००। नागरी

क

ख

ग

घ

ङ

च

गत द्विसहस्राब्दी में संस्कृत व्याकरण का विकास

[लेखक—श्रीसरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य]

भारतीय वाङ्मय में व्याकरण-शास्त्र की महत्ता प्राचीन काल से मानी गई है। प्राचीन काल से लेकर आज तक व्याकरणशास्त्र की जितनी छानबीन भारतवर्ष में हुई, उतनी विश्व के किसी देश में नहीं। यूरोप में भाषाविज्ञान एक आधुनिक शास्त्र है और वह भी संस्कृतभाषा से परिचय प्राप्त करने के फलस्वरूप विकसित हुआ है। किंतु भारत में भाषाशास्त्र के महत्त्व का परिचय वैदिक काल से ही मिलता है। वेदों के छः अंगों में से ३ अंग (शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण) भाषाशास्त्र से साक्षात् संबंध रखते हैं और वेदांगों में व्याकरण को प्रधान अंग माना गया है। व्याकरण के प्रवर्त्तकों में सर्व प्रथम नाम देवराज इंद्र का है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि इंद्र ने सर्व प्रथम भाषा को व्याकृत किया अर्थात् उच्चरित वाणी के समष्टि रूप को व्यष्टि में परिणत कर व्याकरण-शास्त्र की नींव डाली। पदों के भेद, तीन काल, सात विभक्तियाँ आदि व्याकरण के विभिन्न अंगों का, वैदिक मंत्रों में रहस्यपूर्ण ढँग से, निर्देश मिलता है। ब्राह्मणग्रंथों में पदे पदे भाषाशास्त्र के मुख्य अंग निर्वचन (एटीमालोजी) की दिशा में प्रयत्न किए गए हैं। विभिन्न वैदिक शाखाओं के प्रातिशाख्य और यास्क-कृत निरुक्त तो भाषाशास्त्र के बहुमूल्य ग्रंथ हैं ही, अग्निपुराण और गरुडपुराण तक में व्याकरणशास्त्र का निरूपण किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, जिसमें पूर्वकालीन वैयाकरणों के चिंतनों का अनुशीलन कर संस्कृत वाङ्मय के शब्दों का व्याकरण सूत्ररूप में ग्रथित किया गया है, विश्ववाङ्मय की एक अपूर्व पुस्तक है। कात्यायन, पतंजलि आदि उत्तरकालीन वैयाकरणों ने, अप्रचलित और नवप्रचलित पदों को ध्यान में रखते हुए, पाणिनि-सूत्रों में संशोधन, परिवर्धन और निराकरण की पद्धति का अनुसरण कर व्याकरण को ऐसी सामर्थ्य प्रदान की कि उसका प्रामाण्य आजतक अक्षुण्ण है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि इस मुनित्रयी से प्रतिपादित मत

के आधार पर ही उत्तरकालीन पाणिनीय तथा इतर व्याकरण संप्रदायों का विकास और विस्तार हुआ, जिसका काल स्थूल रूप से विक्रम संवत् के गत २००० वर्ष हैं। इन २००० वर्षों में भारतीय मस्तिष्क ने व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र में जो गंभीर ऊहापोह और सशक्त चिंतन किया है वह संस्कृत विद्या का मेरुदंड कहा जा सकता है। व्याकरण के इस तेजस्वी अध्ययन में संस्कृत और प्राकृत—दोनों भाषाओं के तत्त्वविदों ने भाग लिया है। इस महायाग में भर्तृहरि और भोज सदृश विद्वान् नृप, सम्राट् पुष्यमित्र के याजक पतंजलि और तंतुवायवंशोद्भव क्रमदीश्वर, राजाश्रित समृद्ध हेमचंद्र और तपःकृश निर्धन नागेश भट्ट, काश्मीर से केरल तक संपूर्ण भारत के विद्वान (कैयट और नारायणभट्ट सदृश) वैयाकरणों का आर्त्विज्य एवं सहयोग है।

विक्रम-पूर्व काल में संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न शास्त्रों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ, किंतु उनका सम्यक् परिशीलन, परीक्षण, परिपुष्ट चिंतन और प्रमार्जन विक्रमयुग की गत द्विसहस्राब्दी की विशेषता है। षड् दर्शन, ज्योतिष और आयुर्वेद की तरह व्याकरणशास्त्र भी इसी काल में संवारा गया। वैयाकरणों ने गंभीर चिंतन और सूक्ष्म परीक्षण के आधार पर व्याकरणशास्त्र को वह परिष्कृत शास्त्रीय रूप दिया कि व्याकरणशास्त्र केवल शब्दानुशासनशास्त्र न रह कर 'शास्त्रों का शास्त्र' बन गया। यही कारण है कि अन्य विचारशास्त्रों के समान व्याकरण शास्त्र के भी मत (यथा स्फोटवाद, शब्दविवर्तवाद आदि) विचारशास्त्रीय चर्चा में सम्मिलित किए जाते हैं। सर्वदर्शनसंग्रह में व्याकरणशास्त्र को दर्शन मान कर उसके सैद्धांतिक मतों के प्रतिपादन को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। शब्दसाधुत्वप्रतिपादन की परिधि से बाहर निकलकर व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र का बहुविध प्रसार इतना समुन्नत और परिपक्व हुआ कि भारत में केवल व्याकरण का आजीवन अध्ययन करनेवाले विद्वानों की कभी भी कमी नहीं रही। 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' की परंपरा भारतीय मस्तिष्क की ही विशेषता है।

गत द्विसहस्राब्दी में व्याकरण-चिंतन की परंपरा में दो धाराएँ स्पष्ट दीखती हैं। प्रथम धारा के अनुयायियों ने व्याकरण के ध्येय 'शब्दसाधुत्व प्रतिपादन' को मुख्यतया ध्यान में रखकर परिवर्तनशील भाषा से संबंध-

विच्छेद नहीं किया। संस्कृत भाषा में—यहाँ भाषा का अर्थ जन भाषा नहीं, शिष्टभाषा है—जो नवीन शब्द प्रचलित और प्राचीन शब्द अप्रचलित हो जाते थे, उनकी साधुता और असाधुता दिखलाने के लिये व्याकरण के नियमों में परिवर्तन अपेक्षित था। यह कार्य दो प्रकार से संभव था; और दोनों ही प्रकारों का अवलंबन कर भारतीय वैयाकरणों ने व्याकरणशास्त्र को भाषा-प्रवाह से दूर नहीं जाने दिया। प्रथम प्रकार में पाणिनीय सूत्रों को ही आवश्यकतानुसार घटा बढ़ाकर या व्याख्यांतर की शरण लेकर नवप्रचलित रूपों की उपपत्ति कर दी जाती थी। दूसरे प्रकार के अनुयायियों ने तोड़ मरोड़कर काम निकालने की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया, बल्कि नए नियम रचकर नवीन व्याकरण-संप्रदायों को जन्म दिया। इन संप्रदायों की रचना यद्यपि पाणिनीय आदर्श पर की गई थी और इनमें, पाणिनीय व्याकरण की सर्वांगपूर्णता और उत्तर कालीन वैयाकरणों के द्वारा किये हुए गंभीर परिशीलन न होने के कारण, शास्त्रपद प्राप्त करने की क्षमता न थी, तथापि इसमें संदेह नहीं कि सरल और सुगम होने के कारण इन विभिन्न व्याकरण-संप्रदायों ने अपना मुख्य काम—शब्दानुशासन—उत्तम प्रकार से निभाया। पाणिनीय सूत्रों में ही घटा बढ़ाकर या नए नियम बनाकर, प्रथम धारा के अनुयायी वैयाकरणों ने भाषा और व्याकरण के निकट संबंध को कायम रखा। शिष्ट व्यवहार में प्रचलित पदों (लक्ष्यों) पर ध्यान देने के कारण ये वैयाकरण 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' कहे जा सकते हैं। व्याकरण शास्त्र चिंतन-परंपरा की यह पहली धारा है। दूसरी धारा के अनुयायियों ने भाषा को गौण मानकर व्याकरण को प्रधानता दी। उनके मत से शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व की कसौटी व्याकरण-सूत्र हैं, शिष्टव्यवहार नहीं। व्याकरण-नियमों (लक्षणों) की ओर ध्यान देने के कारण दूसरी धारा के वैयाकरण 'लक्षणैकचक्षुष्क' कहे जा सकते हैं। लक्ष्यैकचक्षुष्क और लक्षणैकचक्षुष्क—ये दो शब्द भारतीय व्याकरणशास्त्र चिंतन की इन दो भिन्न परंपराओं के दृष्टिकोण में मौलिक भेद को भली भाँति स्पष्ट करते हैं। 'अपाणिनीयं तु भवति' (यह तो पाणिनि से विरुद्ध जाना होगा) और 'नह्येकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' (केवल एक उदाहरण (लक्ष्य) की सिद्धि के लिये सूत्र रखना ठीक नहीं है) सदृश वाक्य स्पष्ट सूचित करते हैं कि इन वैयाकरणों का ध्येय भाषा

का व्याकरण लिखना नहीं बल्कि व्याकरण के सूत्रों की मीमांसा करना था। भाषा का शुद्धीकरण नहीं, सूत्रों के अर्थ की छानबीन इनका मुख्य कार्य था। यही कारण है कि उत्तरकालीन वैयाकरणों ने भाषा का स्वतंत्र व्याकरण ग्रंथ न रचकर टीकाएँ, उपटीकाएँ लिखने में कौशल दिखाया। सूत्रों के अर्थ की मीमांसा, उनके आधार पर संभूत पदों के असंख्य रूपों की कल्पना, सूत्रों में अर्धमात्रा लाघव की असंभाव्यता का प्रदर्शन, खंडन-मंडनात्मक शास्त्र विचार, नव्य नैयायिकों की शैली में सूत्रों के अभिप्रेत अर्थ का सूक्ष्म चिंतन, प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य के अर्थनिरूपण में न्याय और मीमांसा के मतों की साधक-बाधक चर्चा कर व्याकरण को शब्दशास्त्र ही नहीं, अर्थशास्त्र के उन्नत पद पर आसीन कराना – आदि अनेक बुद्धि नैपुण्य सूचक विमर्शों में भारतीय मस्तिष्क ने अपनी प्रखर प्रतिभा प्रगट की। विश्व की किसी भाषा या वाङ्मय के इतिहास में एवंविध प्रकाण्ड और गंभीर व्याकरण संबंधी अर्थ-चिंतन नहीं हुआ। लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों की यह उज्ज्वल परंपरा आज भी भारत में जीवित है। संस्कृत-विद्या-केंद्र काशी के विद्वत्समाज ने इस परंपरा को अक्षुण्ण रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों की परंपरा का प्रारंभ कात्यायन के समय से ही दृष्टिगोचर होता है। इन वैयाकरणों ने आवश्यकतानुसार पाणिनीय सूत्रों में परिवर्तन करने या अन्य संप्रदाय चलाने में संकोच नहीं किया। फलतः समानांतर रूप से दोनों मार्गों का अनुसरण किया गया। एक ओर तो पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक, इष्टि, ज्ञापक, योग विभाग आदि के द्वारा अष्टाध्यायी को ही सर्वार्थसाधक बनाने का प्रयत्न किया गया; दूसरी ओर कातंत्र, चांद्र आदि पाणिनीयेतर संप्रदायों ने स्वतंत्र ग्रंथ रचे। सरल से सरल रीति से संस्कृत व्याकरण सिखाना इन संप्रदायों का उद्देश्य था और उसमें वे बहुत अंश तक सफल भी हुए। आज भी बंगाल में और विशिष्टधर्मावलंबियों के समाज में संस्कृत व्याकरण का अध्ययन अध्यापन पाणिनीयेतर संप्रदायों के ग्रंथों की सहायता से होता है। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के संपर्क के फलस्वरूप रची गई आधुनिक व्याकरण-पुस्तिकाओं को यदि हम भूलना न चाहें तो यह कहा जा सकता है कि लक्ष्यैकचक्षुष्क-वैयाकरण

परंपरा भी आज भारत में जीवित है। वाल्मीकि और कालिदास की भाषा को समझने के लिये किसी न किसी रूप में इस परंपरा का प्रचार स्वाभाविक है।

इस प्रस्तावना को समाप्त करने के पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि भाषा और व्याकरण के परस्पर-संबंध को ठीक तौर से समझ लिया जाय। पाणिनि की भाषा वास्तव में 'भाषा' थी, अर्थात् बोलचाल की जन भाषा थी। पाणिनि ने इसे स्वभावागत विकृतियों से बचाने के लिये स्थिर रूप दिया। 'संस्कृत' हो जाने के कारण वह संस्कृत भाषा कहाई। कात्यायन और पतंजलि के समय तक वह संस्कृत भाषा शनैः-शनैः शिष्टभाषा बन रही थी और जन भाषा का प्राकृतिक विकास प्राकृत भाषाओं के रूप में हो रहा था। आगे चलकर संस्कृत भाषा शिष्टभाषा भी न रही और धीरे धीरे पंडितभाषा बन गई। भिन्न-भिन्न प्रांतों में विभिन्न प्राकृत भाषाओं के प्रचलन के कारण, अखिल भारतवर्ष की सांस्कृतिक और साहित्यिक संपत्ति इसी पंडितभाषा में निहित की गई और भिन्न प्रांतीय विद्वानों के विचार विनिमय की एकमात्र साधन बनी। यही कारण है कि काव्य, अलंकार के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, स्थापत्य शिल्प, संगीत आदि शास्त्रीय विषयों में अखिल भारतीय कीर्ति के ग्रंथ, समस्त देश में प्रचार पाने के लिये, इसी पंडितभाषा में रचे गए। साथ ही साथ, जन भाषा और शिष्ट भाषा के रूप में संस्कृत भाषा की उत्तराधिकारिणी प्राकृत भाषाओं में भी प्रांतीय महत्त्व की कृतियाँ रची गईं। अतः उन भाषाओं के व्याकरण का भी अनुशीलन और चिंतन वैयाकरणों ने किया। पाली व्याकरण और प्राकृत व्याकरण पर रचे गए ग्रंथ इसी दिशा में किए गए प्रयत्नों के फल हैं। वर्तमान भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन में और भाषाविज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने के लिये इन ग्रंथों का महत्त्व संदेहातीत है।

त्रिमुनि व्याकरणम्—

अष्टाध्यायी रचने में पाणिनि का मुख्य उद्देश्य वैदिक भाषा से भेद दिखाते हुए तत्कालीन भाषा को 'संस्कृत' करना था। अपने पूर्वकालीन वैयाकरणों के उन मतों को, जिनके संबंध में उनका मत-भेद था, पाणिनि ने

निःसंकोच नाम निर्देश सहित उद्धृत किया है; जहाँ मतैक्य था, वहाँ उन्होंने नाम निर्देश आवश्यक नहीं समझा। इससे स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती वैयाकरणों की कृतियों को सम्यक् आत्मसात् कर उन्हीं के आधार पर पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। पाणिनि के बाद कात्यायन का नाम आता है, यद्यपि कात्यायन के पूर्व भी पाणिनि सूत्रों पर वार्तिक रचे गए थे, जिनमें से अनेक महाभाष्य में पाए जाते हैं। अपने वार्तिकों में स्वयं कात्यायन ने वाजप्यायन, व्याडि और पौष्करसादि का नामोल्लेख किया है। सत्य तो यह है कि कात्यायन के वार्तिकों का स्वतंत्र ग्रंथ अप्राप्य है और जितने भी वार्तिक आज सिद्धांत रूप से कात्यायनकृत माने जाते हैं वे सब महाभाष्य के अन्तर्गत हैं। जिन वार्तिकों की उपयोगिता के संबंध में पतंजलि का विरोध नहीं है और जो पाणिनि द्वारा असाधित शब्दों की सिद्धि के लिये या अवाञ्छनीय (किंतु सूत्रप्राप्य) पदों की असाधुता निर्दिष्ट करने के लिये आवश्यक हैं, वे ही काशिका या सिद्धांत-कौमुदी में उद्धृत किए गए हैं और साधारणतया आज कात्यायनकृत माने जाते हैं। परंतु हमें यह जानना चाहिए कि कात्यायन के अन्य सैकड़ों वार्तिक पतंजलि की कड़ी जाँच में खरे नहीं उतरे; अतः अनावश्यक होने के कारण वे महाभाष्य में ही रह गए और उत्तरकालीन वैयाकरणों ने उन पर ध्यान नहीं दिया। पतंजलि ने महाभाष्य में पाणिनि के लगभग १५०० सूत्रों पर रचे गए करीब ४००० वार्तिकों पर साधक-बाधक टीका की है, किंतु उनमें एक से अधिक वार्तिक कात्यायन से भिन्न वार्तिककारों के हैं। भारद्वाजीय, सौनाग, कुणि आदि कई वार्तिककारों का पतंजलि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' (पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि में पूर्व आचार्य की अपेक्षा पर आचार्य का मत अधिक मान्य है) परिभाषा से स्पष्ट है कि मुनित्रयी में पतंजलि का मत अकाट्य है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह उचित भी है, क्योंकि कात्यायन के समान पतंजलि का भी यही ध्येय था कि पाणिनि-सूत्रों को परिवर्तन-प्राप्त भाषा के समकक्ष रखा जाय। नवीन परिवर्तनों को मान्य करने के लिये सूत्रों और वार्तिकों में संशोधन अपेक्षित थे। पाणिनि के अनंतर और पतंजलि के पूर्व अनेक आचार्यों ने संशोधनात्मक वार्तिकों की रचना की थी। पतंजलि ने महाभाष्य में इन सभी आचार्यों के वार्तिकों की, तत्कालीन भाषा के मान्य रूपों की

दृष्टि से, जाँच पड़ताल की है। महाभाष्य न तो समस्त पाणिनि-सूत्रों पर और न केवल कात्यायन-रचित वार्तिकों पर भाष्य है; वास्तव में यह विभिन्न आचार्यों द्वारा रचे गए व्याकरण संबंधी नियमों पर एक समीक्षात्मक ग्रंथ है। पाणिनि के समस्त सूत्रों पर भाष्य उपलब्ध न होने के कारण महाभाष्य पंडित-समाज में अपूर्ण समझा जाता है। किंतु उपलब्ध महाभाष्य अपूर्ण नहीं कहा जा सकता; प्रसिद्ध टीकाकार कैयट और नागेश ने भी अपने ग्रंथों में मूल ग्रंथ की अपूर्णता का उल्लेख नहीं किया है।

पतंजलि ने वार्तिकों की समीक्षा में उनकी उपादेयता या अनुपादेयता पर विचार करते हुए जो ग्रंथराज रचा है वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसके समान प्रश्नोत्तरात्मक रोचक संवाद-शैली, सरल भाषा, विशद प्रतिपादन-पद्धति, विशाल दृष्टिकोण तथा हास्यरस का पुट अन्य किसी ग्रंथ में दृष्टिगोचर नहीं होते। देश की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक स्थिति पर भी मनोरंजक सूचनाएँ मिलती है। उदाहरण के तौर पर दिए गए अनेक वाक्यों में ऐतिहासिक सूचनाएँ अंतर्निहित हैं। समकालीन किंतु अप्रत्यक्षीकृत भूत घटनाओं के वर्णन में अनद्यतन भूत (लङ्) के प्रयोग के उदाहरण में उन्होंने यवनराज मिलिंद के साकेत पर आक्रमण का उल्लेख किया है (अरुणद्यवनः साकेतं)। इसका अनुकरण चंद्रगोमिन् ने अजय द्गुप्तो हूणान् , शाकटायन ने 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' , मलयगिरि ने 'अदहद्रातीन् कुमारपालः' उदाहरणों में स्वकालीन (क्रमशः षष्ठ, नवम और त्रयोदश विक्रमशतक की) महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश में किया है। पतंजलि की व्याख्यान-पद्धति उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यदि किसी अंश में पाणिनीय सूत्र अपूर्ण प्रतीत होता है तो उस पर संशोधनात्मक वार्तिक रचने के पहले पतंजलि यह देखना चाहते हैं कि क्या सूत्र पर वार्तिक का बोझ लादे बिना उपायांतर से अभिप्रेत अर्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता। जहाँ तक संभव हुआ सूत्रों में ही योगविभाग, अनुवृत्ति, ज्ञापक आदि का आश्रय लेकर पतंजलि ने जिस व्याख्यानशैली को जन्म दिया वह उत्तरकालीन टीकाकार वैयाकरणों के हाथ में पड़कर खूब पनपी और जटिल बनी। मुनित्रय के ग्रंथों की रचना जीवित भाषा के आधार पर की गई थी। पतंजलि ने स्वयं

कहा है कि उनके समय में भाषाज्ञान के लिये व्याकरण पढ़ना आवश्यक नहीं था। अपने काल के मान्य रूपों की उपपत्ति के लिये कात्यायन आदि वार्तिककार और महाभाष्य-कार ने अपने-अपने ढंग से प्रयत्न किए। अतः यह कहना कि वार्तिककार का उद्देश्य पाणिनि के दोषों का उद्घाटन करना था तथा पतंजलि का उद्देश्य पाणिनि का मंडन और वार्तिककार का खंडन करना था, मुनित्रयी के दृष्टिकोण से अपरिचय सूचित करता है। कात्यायन और पतंजलि दोनों का उद्देश्य एक ही था—स्वकालीन शिष्टभाषा का 'पूर्ण' व्याकरण लिखना। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ एक ओर कात्यायन सूत्रों पर संशोधनात्मक वार्तिक रचते हैं, पतंजलि सूत्र और वार्तिक दोनों का सूक्ष्म परिशीलन और तर्कशुद्ध व्याख्यान कर आवश्यकता से अधिक सूत्र या वार्तिक नहीं रखना चाहते। यह भी बात नहीं है कि पतंजलि हमेशा पाणिनि का समर्थन ही करते हों। अपनी दृष्टि से अनावश्यक सूत्रों का उन्होंने प्रत्याख्यान भी किया है और दूसरी ओर, कात्यायन के वांछनीय वार्तिकों का समर्थन भी किया है। सारांश यह कि तत्कालीन भाषा के व्याकरण की दृष्टि से पतंजलि का मत अधिक मान्य होना चाहिए और इसी लिये पाणिनीय संप्रदाय में 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' कहा गया है। अन्य विचारशाखों में सूत्रों पर रचे गए भाष्य 'भाष्य' कहाते हैं, किंतु पतंजलि का भाष्य महत्त्व के कारण महाभाष्य कहा गया है।

वाक्यपदीय में कहा है कि वैजि, सौभव और हर्यक्ष नामक वैयाकरणों ने शुष्क तर्क का अनुसरण कर तीक्ष्ण समालोचना द्वारा महाभाष्य की छीछालेदर की थी। फलस्वरूप महाभाष्य की अध्ययन-अध्यापन परंपरा विच्छिन्न हो गई। केवल दक्षिण में महाभाष्य ग्रंथ पुस्तक रूप में रह गया था। इस स्थिति में चंद्राचार्य आदि विद्वानों ने महाभाष्य का सूक्ष्म अध्ययन कर उसका पुनरुद्धार किया। राजतरंगिणी में भी कहा गया है कि काश्मीर-नृप अभिमन्यु ने पतंजलि-संप्रदाय के वैयाकरणों को देशांतर से बुलाकर अपने राज्य में महाभाष्य के अध्ययन को पुनः प्रचलित किया। इससे विदित होता है कि महाभाष्य के कालक्रमानुगत विकास में अनेक बार कठिनाइयाँ आईं और बीच में इसकी पठन-पाठन परंपरा टूट भी गई थी। पतंजलिचरित की कहानी,

जिसमें, यह कहा गया है कि महाभाष्य की एक मात्र उपलब्ध पल्लव-प्रति के कुछ अंश बकरे ने खालिए थे संभवतः इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर निर्देश करती है। महाभाष्य के टीकाकारों में भर्तृहरि का नाम सर्व प्रथम आता है। गण-रत्नमहोदधि के रचयिता वर्धमान के कथनानुसार भर्तृहरि ने महाभाष्य के ३ पादों पर व्याख्या लिखी थी। किंतु वह टीका आज लुप्तप्राय है। बर्लिन की एक हस्तलिखित प्रति में तथा उससे फोटो द्वारा नकल की गई मद्रास-लायब्रेरी की प्रति में केवल १-१-५५ सूत्रों तक ही त्रुटित टीका मिलती है। कुछ वर्ष पूर्व पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा इसके प्रारंभिक भाग का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था, किंतु पस्पशाह्निक भी समाप्त नहीं हुआ। महाभाष्य के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने का मुख्य श्रेय काश्मीरी विद्वान् कैयट (एकादश विक्रम शतक) को है। कैयट ने अपनी भूमिका में लिखा है कि मैं भर्तृहरि की टीका के सहारे अपनी टीका लिख रहा हूँ। इसमें संदेह नहीं कि कैयट की प्रदीप व्याख्या के अभाव में महाभाष्य के रहस्य का समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। कैयट ने एक-देशिन् और सिद्धान्तिन् भाष्य की छानबीन कर भिन्न प्रतीयमान मतों का समन्वय दिखाकर महाभाष्य के अध्ययन को सुगम बनाया है। षोडश वि० शतक के पूर्व रची गई निम्नलिखित टीकाओं का उल्लेख मिलता है—धनेश्वर की चिन्तामणि नामक महाभाष्य टीका, नारायण और ईश्वरानंद की प्रदीप पर विवरण नामक टीकाएँ। नागेशभट्ट (१९ वाँ वि० शतक-पूर्वपाद) ने प्रदीप पर उद्योत नाम की टीका लिखी। इस टीका में नागेश के महाभाष्य का प्रकांड पंडित होने का प्रमाण पदे पदे मिलता है। महाभाष्य का गंभीर आलोडन कर उन्होंने जो मथितार्थपूर्ण टीका लिखी, उससे तत्कालीन वैयाकरणों में उनका उच्च स्थान निर्विवाद है। उद्योत पर नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुंडे ने छाया नामक टीका लिखी। अभी हाल ही में काशी के गुरुप्रसाद शास्त्री ने राजलक्ष्मी नामक टिप्पण्यात्मक व्याख्या के साथ प्रदीपोद्योत सहित संपूर्ण महाभाष्य को प्रकाशित किया है। पूना से अभ्यंकरशास्त्री द्वारा मराठी अनुवाद सहित महाभाष्य के दो अध्याय प्रकाशित हो चुके है।

महाभाष्य पर अद्यावधि रची गई टीकाओं का यह संक्षिप्त विवरण है। अब हम पाणिनीय व्याकरण के अन्य ग्रंथों का परिचय, निम्नलिखित

क्रम से देंगे। अष्टाध्यायी-क्रमानुसारी ग्रंथ, विषयक्रमानुसारी ग्रंथ, अर्थ-मीमांसापरक ग्रंथ, सहायक ग्रंथ।

अष्टाध्यायीक्रमानुसारी ग्रंथ

विक्रमयुग के प्रथम पाँच छः शतकों में व्याकरण संबंधी कार्य, शिष्टभाषा में अन्य प्राकृत भाषाओं के संपर्क के कारण होनेवाले परिवर्तनों और नव प्रयुक्त शब्दों के उपपादन तक ही सीमित था। पाणिनीयेतर संप्रदायों ने नए नियम रचकर नवीन व्याकरणसंप्रदाय (कातंत्र, चांद्र आदि) चलाए। किंतु पाणिनीयसंप्रदाय में पतंजलि-निर्दिष्ट मार्ग से व्याख्यानविशेष द्वारा अभीप्सित अर्थ निकाला जाता था। भर्तृहरि के पूर्व चंद्राचार्य द्वारा महाभाष्य प्रचार के साथ साथ पाणिनीय व्याकरण भी पुनः जोर से प्रचलित हुआ। इस पुनः प्रचार में ब्राह्मणधर्मीयेतरों का भी सहयोग था। सृष्टिधराचार्य (१७ वाँ वि० शतक) के अनुसार भर्तृहरि ने भागवृत्ति नामक टीका अष्टाध्यायी पर लिखी थी। यद्यपि क्रमदीश्वर (नवम वि० शतक), जुमरनंदिन (एकादश वि० शतक) के व्याकरण ग्रंथों में इस टीका के अवतरण उपलब्ध हैं, तथापि मूल टीका अप्राप्य है। अतः अष्टाध्यायीक्रमानुसारी ग्रंथों में सर्वप्रथम उल्लेख 'काशिकावृत्ति' का होना चाहिए। काशिका के लेखक जयादित्य और वामन बौद्धधर्मीय थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग के कथनानुसार जयादित्य का देहावसान ७५६ वि० सम्वत् में हुआ और १६ वर्ष के छात्रों को काशिका-वृत्ति ५ वर्ष में पढ़ाई जाती थी। ५ अध्याय तक काशिकावृत्ति जयादित्य ने लिखी थी, शेष ३ अध्यायों पर वामन ने लिखी। काशिकावृत्ति में प्रत्येक सूत्र का स्पष्ट अर्थ, अपेक्षित वार्तिक और सुगम उदाहरण दिए गए हैं। भट्टोजी दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के सामने काशिका का प्रचार बंद सा हो गया है। किंतु पूर्वसूत्र से पदों की अनुवृत्ति का ज्ञान कराते हुए सूत्रार्थ के विकास का दिग्दर्शन कराने के कारण काशिका का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। हर्ष की बात है कि काशी की राजकीय व्याकरणपरीक्षाओं में काशिका का हाल ही में अंतर्भाव किया गया है। काशिका पर बौद्ध जिनेंद्रबुद्धि ने (अष्टम वि० शतक) न्यास या विवरणपंजिका नामक विस्तृत टीका लिखी है, जो राज-

शाही (बंगाल) से प्रकाशित हो चुकी है। मैत्रेय रक्षित (द्वादश वि० शतक) द्वारा न्यास पर लिखी 'तंत्रप्रदीप' टीका का उल्लेख मिलता है। पुरुषोत्तमदेव (त्रयोदश वि० शतक) की भाषावृत्ति (राजशाही से प्रकाशित) इसी टीका के आधार पर लिखी गई थी। काशिका पर दूसरी प्रसिद्ध टीका हरदत्त (१२ वाँ वि० शतक) की पदमंजरी (बनारस से प्रकाशित) है। इसमें कैयट के प्रदीप का प्रभाव यत्रतत्र दीख पड़ता है। न्यासकार के मतों के खंडन की ओर हरदत्त की विशेष प्रवृत्ति है। अन्नंभट्ट (१७ वाँ वि० शतक) की अष्टाध्यायी पर मिताक्षरा टीका (बनारस से प्रकाशित) सरल और उपादेय है। इसमें महाभाष्य और काशिका के भेद-स्थलों का निर्देश किया गया है। पदमंजरी के बाद अष्टाध्यायीक्रमानुसार टीकाग्रंथों की रचना प्रायः बंद हो जाती है और विषयक्रमानुसार लिखे ग्रंथ मिलते हैं। अपवादस्वरूप दो ग्रंथों का निर्देश आवश्यक है। पहिला ग्रंथ भट्टोजी दीक्षित (सप्तदश वि० शतक का उत्तरार्ध) का शब्दकौस्तुभ है, -जो अष्टाध्यायीस्थ क्रम से सूत्रों की महाभाष्यार्थसंवलित गहन व्याख्या है। प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजीदीक्षित की इस कृति में महाभाष्य का आलोडन कर सूत्रव्याख्या-विषयक गंभीर विवेचन किया गया है। विशिष्ट शैली के कारण महाभाष्य-टीका न कहकर इसे सूत्रव्याख्या पर एक स्वतंत्र ग्रंथ कहना चाहिए। पूर्व वैयाकरणों के मतों का खंडन-मंडन और पांडित्यपूर्ण शैली में, भाष्यार्थ का अवतरण देकर, विषय प्रतिपादन-इसकी विशेषता है। अभाग्यवश यह ग्रंथ अभी अपूर्ण ही (४ अध्याय तक—त्रुटित रूप में) बनारस से प्रकाशित है। वैद्यनाथ पायगुंडे ने इस पर प्रभा नामक टीका लिखी थी। दूसरा ग्रंथ स्वामी दयानंद का बाल-छात्रोपयोगी अष्टाध्यायी-भाष्य है। यह भी अजमेर से डा० रघुवीर द्वारा अपूर्ण ही प्रकाशित है। इसकी प्रतिपादनशैली में सरलता है और यत्रतत्र मौलिकता दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

विषयक्रमानुसारी ग्रंथ

हिंदू राज्य-काल की समाप्ति पर संस्कृतभाषा शिष्टभाषा या राजभाषा भी न रही। जनसंपर्क से अधिक दूर हो जाने से संस्कृत अब अधिक दुर्बोध हो गई थी। फलतः आवश्यक व्याकरण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अष्टाध्यायी-

सूत्रक्रम की उपादेयता कम हो गई थी। संस्कृत व्याकरण के विद्वान् अष्टाध्यायी-क्रम से भले ही लाभ उठा लें, किंतु नव विद्यार्थी के लिये अष्टाध्यायी-क्रम द्वारा व्याकरण ज्ञान प्राप्त करना सुलभ न था। इस स्थिति में पाणिनीय वैयाकरणों ने एक नई प्रणाली का अनुसरण किया। इस नवीन प्रणाली के ग्रंथों में विषयानुसार सूत्रों का विन्यास तो किया गया ही, साथ ही प्रकरण में दिए गए उदाहरणों की सिद्धि के आवश्यक अन्य सूत्र भी उसी स्थल पर विन्यस्त किए गए। फल यह हुआ कि अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम को छोड़कर संधि, सुबंत तिङंत, कृदंत आदि प्रकरण अलग अलग रखे गए और आवश्यक अन्य सूत्र भी उपयोगिता की दृष्टि से भिन्न भिन्न स्थलों से निकाल कर उपयुक्त स्थलों में दिए गए। अष्टाध्यायी में संक्षिप्तता लाने के लिये सुबोधता पर ध्यान नहीं दिया गया था। सुधी उपास्य: से सुद्ध्युपास्य: सिद्ध करने के लिये अष्टाध्यायी के भिन्न भिन्न स्थलों से यण्विधायक सूत्र, ध् का द्वित्वविधायक सूत्र, ध् को द् बनाने का सूत्र तथा अन्य आवश्यक परिभाषासूत्र एक ही स्थान में रखना आवश्यक था। यह काम सुचारु रूप से पाणिनीय वैयाकरणों ने परिवर्तनवादी बनकर किया। परंपरावादी का हठ छोड़कर सूत्रक्रम का परिवर्तन करने में उन्होंने आनाकानी नहीं की। इस दिशा में प्रथम प्रयत्न विमल सरस्वती (११ वीं वि० श०) की रूपमाला और धर्मकीर्ति (११ वीं वि० श०) का रूपावतार है। रूपावतार, राजेंद्र चोड के आज्ञानुसार पाठशालाओं में संस्कृत व्याकरण पढ़ाने के लिये लिखा गया था। रामचंद्र (१४ वीं वि० श०) की प्रक्रियाकौमुदी इस दिशा में अधिक सुव्यवस्थित प्रयत्न है। इसका आधार लेकर भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धांतकौमुदी की रचना की। प्रक्रियाकौमुदी पर मूलग्रंथ-लेखक के पौत्र विट्ठल ने प्रसाद नामक टीका तथा भट्टोजी दीक्षित के गुरु शेषकृष्ण ने प्रकाश नामक टीका लिखी। रूपमाला, रूपावतार और प्रक्रियाकौमुदी में अष्टाध्यायी के सब सूत्र नहीं दिए गए। वैदिक भाग तो अधिक अपूर्ण है। इस दोष का मार्जन करने के लिये भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धांतकौमुदी की रचना की। यहाँ पर तत्कालीन केरल के प्रसिद्ध वैयाकरण नारायण भट्ट के प्रक्रियासर्वस्व का उल्लेख करना आवश्यक है। नारायण भट्ट दक्षिण भारत में भट्टोजीदीक्षित के प्रतिस्पर्धी माने जाते है।

दोनों के संबंध में एक दूसरे से मिलने की इच्छा के (मृत्यु के कारण) अपूर्ण रह जाने की कथा कही जाती है। प्रक्रियासर्वस्व २० खंडों में लिखा गया है। इसके प्रथम ४ खंड त्रिवेंद्रम् से तथा ५ वाँ खंड (तद्धित) और १९ वाँ खंड (उणादि) मद्रास से हाल में प्रकाशित हुए हैं। प्रसिद्ध किंतु अपाणिनीय पदों को मान्यता देकर नारायण भट्ट ने स्वतंत्रता दिखाई है। 'विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्त्युक्तं नाद्रियामहे। मुरारि भवभूत्यादीनप्रमाणीकरोति कः' श्लोक में उन्होंने यही कहा है। किंतु भट्टोजी दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के सामने प्रक्रियासर्वस्व को भी झुकना पड़ा। सिद्धांतकौमुदी की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि इस पर टीकाओं और उपटीकाओं की संख्या अत्यधिक है और आज भी समस्त भारत में इसका मान और प्रचार है। भट्टोजी दीक्षित ने अपने पूर्ववर्ती पाणिनीय वैयाकरणों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। सिद्धांतकौमुदी की स्वरचित टीका प्रौढ़मनोरमा में पदे पदे सूत्रार्थविचार के अवसर पर नामनिर्देशसहित वृत्ति, न्यास, पदमंजरी, प्रसाद, प्रकाश का खंडन उन्होंने किया है। अष्टाध्यायी पर उनके महाभाष्यार्थसंवलित विस्तृत व्याख्या-ग्रंथ शब्दकौस्तुभ का निर्देश ऊपर हो चुका है। भट्टोजी दीक्षित के समय में सूत्रों के अर्थ-चिंतन पर और उनके प्रयोग से संभूत पदों के रूपों पर लक्षणैकचक्षुष्क दृष्टि से अत्यधिक और (कभी कभी) हास्यावह ध्यान दिया जाता था। सम् + कर्ता के ससंधिक १०८ रूप और गो + अश्व (गामश्वतियः सः) प्रकृति से सातों विभक्तियों में निष्पन्न ५२७ रूप इसके उदाहरण हैं। इष्ट लक्ष्यों से ध्यान हटाकर केवल लक्षणों (सूत्रों) पर ध्यान देने का यह स्वाभाविक परिणाम है। सिद्धांतकौमुदी पर प्रसिद्ध टीकाओं में नागेशभट्ट का शब्देंदुशेखर, ज्ञानेंद्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित (१९ वीं वि० श०) की बालमनोरमा (छात्रों के लिये अत्युपयोगिनी), शिवदत्त दाधिमथ की सारदर्शिनी टीका उल्लेखनीय हैं। स्वरवैदिकीप्रक्रिया पर जयकृष्ण की सुबोधनी प्रकाशित सिद्धांतकौमुदी के संस्करणों में पाई जाती है। अभी हाल ही में मद्रास से श्रीनिवास यज्वन् (१८ वीं वि० श०) की स्वरप्रक्रिया पर स्वरसिद्धांतचंद्रिका नामक टीका प्रकाशित हुई है जो वैदिक उदाहरणों की विविधता के कारण उपादेय है। अन्य नूतनतम (सिद्धांतकौमुदी पर) टिप्पणीकारों का नामोल्लेख स्थानसंकोचवश असंभव है। प्रौढ़मनोरमा

और शब्देंदुशेखर पर विद्वत्तापूर्ण उपटीकाओं का आगे निर्देश किया जायगा। पाणिनीय व्याकरण के इतिहास में यह काल खंडन-मंडन का युग कहा जा सकता है। सिद्धांतकौमुदी के बाद मूल ग्रंथ पर टीका लिखने की प्रथा बंद सी हो गई थी। जटिल भाषा में गहन टीका लिखना चालू हो गया था। विचार-स्वातंत्र्य का प्रदर्शन पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के मत-खंडन में किया जाता था। इन सब उपटीकाओं का विवरण देना असंभव होने से केवल नाम का उल्लेख किया जाता है। इनके महत्त्व के विषय में चर्चा अंत में की जायगी। प्रौढमनोरमा पर पंडितराज जगन्नाथ की मनोरमाकुचमर्दिनी (पञ्चसन्ध्यन्त प्रकाशित), चक्रपाणि और कृष्णभट्ट मौनीका मनोरमाखंडन (द्वितीयकारकांत प्रकाशित) उल्लेखनीय हैं। मनोरमा पर नागेशभट्ट द्वारा अपने गुरु हरि दीक्षित के नाम से लिखी शब्दरत्न नामक टीका पर भागवत हरिशास्त्री की चित्रप्रभा (कारकांत), वैद्यनाथ पायगुंडे का भावप्रकाश, भैरवमिश्र की रत्नप्रकाशिका उल्लेखनीय हैं। सिद्धांतकौमुदी की नागेश भट्टरचित टीका शब्देंदुशेखर पर वैद्यनाथ पायगुंडे की चिदस्थिमाला, भैरव मिश्र की चंद्रकला, सदाशिव भट्ट की भट्टी, राघवेंद्राचार्य की विषमी, दंड भट्ट की अभिनव चंद्रिका, खुद्दी झा का नागेशोक्ति प्रकाश (नपदान्तसूत्रांत) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश केवल महत्त्वपूर्ण अंशों पर लिखी गई हैं। प्रौढमनोरमा और लघुशब्देंदुशेखर के अनेकटीकोपेत नूतन संस्करणों में माधव शास्त्री भंडारी, सदाशिव शास्त्री एवं गुरुप्रसाद शास्त्री आदि आधुनिक विद्वानों ने अपनी टिप्पण्यात्मक टीकाएँ लिखी हैं। इन विद्वानों की गहन टीकाओं से व्याकरणज्ञान की अपेक्षा करना वृथा है, क्योंकि ये टीकाएँ 'बालानां सुखबोधाय' नहीं लिखी गई हैं। विद्यार्थियों के उपकार के लिये वरदराज (भट्टोजी दीक्षित के शिष्य) ने मध्यसिद्धांतकौमुदी, लघुसिद्धांत कौमुदी और सारसिद्धांतकौमुदी-तीन संक्षिप्त संस्करण बनाए थे। आजकल विद्यार्थिगण द्वितीय पुस्तक से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रारंभ करते हैं।

अर्थमीमांसा पर ग्रंथ

अभी तक पदों की रचना से संबंध रखनेवाले पाणिनीय व्याकरण-ग्रंथों का विवरण दिया गया है। किंतु पदरचना के साथ आरंभ ही से पदार्थ

मीमांसा भी पाणिनीय सम्प्रदाय में पाई जाती है। महर्षि व्याडि ने अपने संग्रह ग्रंथ में, जिसका विस्तार नागेश के कथनानुसार लक्षश्लोकात्मक था, शब्द की नित्यानित्यता, शब्द और अर्थ के संबंध का स्वरूप आदि विषयों पर ऊहापोहपूर्वक विस्तार से विचार किया था। दुर्भाग्य से यह ग्रंथराज अभी तक अनुपलब्ध है। भर्तृहरि (सप्तम वि० श० उत्तरार्ध) का वाक्यपदीय, जिसमें स्फोटवाद और शब्दविवर्तवाद सर्वप्रथम सविधि प्रतिपादित किया गया है, एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके प्रथम कांड पर वृषभदेव की, द्वितीय पर पुण्यराज की और तृतीय पर हेलाराज की टीकाएँ प्रकाशित हैं। भट्टोजी दीक्षित की ७४ कारिकाओं पर, जो उन्होंने शब्दकौस्तुभ में निष्कर्ष के तौर पर निर्णीत की थीं, उनके भतीजे कौंड भट्ट ने वैयाकरणसिद्धांतभूषण नामक टीका लिखी है। इसमें व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध सभी अर्थ-विषयों पर (जैसे धात्वर्थ, प्रत्ययार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि) विशद प्रकाश डाला गया है। इसके संक्षिप्त संस्करण वैयाकरणसिद्धांतभूषणसार पर भैरव मिश्र की परीक्षा, कृष्णमित्र का भूषण, खुद्दी झा का तिङर्थवाद, हरिवल्लभ का दर्पण प्रकाशित हैं। नागेशभट्ट की लघुमंजूषा (परमलघुमंजूषा इसका उपादेय संक्षिप्त संस्करण है) पदार्थ-चर्चा विषयक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतग्रंथ है और इसमें सभी विषयों पर न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रांतरों के मतों का खंडन कर स्वमतस्थापन किया गया है। इसकी टीकाओं में वैद्यनाथ पायगुंडे की कला, कृष्णमित्र की कुंचिका (अपूर्ण प्रकाशित) और सभापति उपाध्याय की रत्नप्रभा विशेष उल्लेख के योग्य हैं। जगदीश की शब्दशक्तिप्रकाशिका और गदाधर के व्युत्पत्तिवाद का, नव्यन्यायशैली से प्रभावित नूतन व्याकरणसंप्रदाय में, प्रचार है। अन्य एकांगी ग्रंथों में स्फोटवाद पर मंडन मिश्र और भरत मिश्र की स्फोटसिद्धि, कृष्णभट्ट मौनी की स्फोटचंद्रिका विशेष उल्लेखनीय हैं।

सहायक ग्रंथ

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।
लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात् ॥

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रंथों के नाम ऊपर के श्लोक में दिए गए हैं। अष्टक (अष्टाध्यायी) का विवरण ऊपर आ चुका है। संक्षिप्तता लाने के लिये

पाणिनि ने सूत्रों में सब शब्दों का निर्देश नहीं किया था, उन शब्दों को गणपाठ में अंतर्भूत किया गया था। २५८ सूत्रों में गणों का निर्देश किया गया है। इन गणों में कुछ तो आकृतिगण हैं, जिनमें अन्य वांछनीय शब्दों का प्रक्षेप किया जा सकता है। किंतु अन्य गणों के संबंध में भी उत्तरकालीन प्रक्षेप का संदेह होता है। भिन्न भिन्न गणों पर (जैसे निपात, अव्यय, उपसर्ग आदि) अनेक अर्थबोधक टीकाएँ लिखी गई हैं। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ, वर्धमान (१२०० वि० श०) का स्वरचित टीका सहित पद्यमय गणरत्न महोदधि है, जो सर्वांगपूर्णता की दृष्टि से उपादेय है। पाणिनीय धातुपाठ में १९९४ धातुएँ हैं, जिनमें २० मैत्र धातु शामिल नहीं है। इस पर क्षीरस्वामिन् (१२०० वि० सं०) की क्षीरतरंगिणी (जर्मनी से प्रकाशित), मैत्रेयरक्षित (११५० वि० सं०) का धातुप्रदीप तथा सायण-माधव (१४०० वि० सं०) की प्रसिद्ध माधवीय धातुवृत्ति (बनारस और मैसूर से प्रकाशित) उल्लेखनीय हैं। उपयोगी सूत्रों से सिद्धिसहित धातुसाधित विशिष्ट रूप जानने के लिये इन टीकाओं का महत्त्व अमूल्य है। उपलब्ध पाणिनीय लिंगानुशासन में १८७ सूत्र हैं। यामुनाचार्य के अनुसार व्याडि ने भी लिंगानुशासन रचा था। सिद्धांतकौमुदी के प्रचलित संस्करणों में लिंगानुशासन भैरवमिश्र की टीका के साथ प्रकाशित है। हाल में बड़ौदा से वामनकृत लिंगानुशासन, मद्रास से पृथ्वीश्वरकृतटीका-समेत हर्षवर्धनकृत लिंगानुशासन प्रकाशित हुए हैं। वररुचि, हर्षवर्धन और शाकटायन के लिंगनुशासन भी फ्रैंक द्वारा पहिले ही से प्रकाशित हैं। उपलब्ध पाणिनीय शिक्षा में ५८ श्लोक मिलते हैं। २१ श्लोकों की लंदन में उपलब्ध शिक्षा संभवत: पाणिनि की मूल शिक्षा है। भारतीय संस्करणों में प्रक्षिप्त सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और शिक्षा के अतिरिक्त उणादि सूत्र, फिट् सूत्र और परिभाषाएँ भी पाणिनीय संप्रदाय में अंतर्भूत हैं। उणादिपाठ साधारणतया शाकटायनकृत माना जाता है। निरुक्त और महाभाष्य में पाए गए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शाकटायन व्युत्पत्तिपक्षवादी थे और संभव है उन्होंने व्युत्पत्तिपक्ष सिद्ध करने के लिये उणादि-सूत्र लिखे हों। पाणिनि ने 'उणादयो बहुलम्' कहकर उणादिसूत्र को टाल दिया है। तो भी पाणिनि-सूत्रों में उणादि प्रत्ययों का निर्देश सूचित करता है कि पाणिनीय

संप्रदाय में उणादिपाठ मान्य होना चाहिये। वररुचि द्वारा भी उणादिपाठ रचे जाने का उल्लेख विमल सरस्वती ने किया है। वर्तमान उपलब्ध उणादिपाठ पर उज्ज्वलदत्त और ज्ञानेंद्र-सरस्वती की टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें कोशकारों और कवियों की कृतियों के ज्ञातव्य अवतरण दिए गए हैं। हाल में मद्रास से कातंत्र-संप्रदाय और भोज-संप्रदाय के उणादिपाठ के साथ-साथ पाणिनीय उणादिपाठ पर श्वेतवनवासिन् (१६०० वि० सं०) की वृत्ति और पेरुसूरि (१६४० वि० सं० के बाद) की पद्यमय टीका 'औणादिकपदार्णव' प्रकाशित हुई हैं। पाणिनि ने स्वयं कई परिभाषाएँ ((सूत्रव्याख्या करने के नियम) अष्टाध्यायी में दी हैं। इनके अतिरिक्त अन्य लोकसिद्ध परिभाषाएँ पाणिनि को मान्य रही होंगी। पतंजलि ने महाभाष्य में अनेक सूत्रज्ञापित परिभाषाओं को मान्य किया है। किंतु परिभाषाओं पर स्वतंत्र ग्रंथ सर्वप्रथम व्याडि का है, उसकी प्रति कलकत्ता (एशियाटिक सोसायटी, लायब्रेरी) में उपलब्ध है। अन्य प्रकाशित परिभाषापाठों में सीरदेव की परिभाषावृत्ति और नागेशभट्ट का प्रसिद्ध परिभाषेंदुशेखर उल्लेखनीय हैं। इसमें प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण, प्राचीन मतों की समीक्षा देकर अंत में वाचनिकी, ज्ञापक-सिद्धा और लोकन्यायसिद्धा का भेद दिखाया गया है। इस पर भी नूतन वैया-करणों ने विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। वैद्यनाथ पायगुंडे की गदा, भैरव मिश्र की भैरवी, राघवेंद्राचार्य की त्रिपथगा, रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री की भूति, जयदेव मिश्र की विजया प्रसिद्ध हैं। अंतिम टीकाओं में नव्यनैयायिक शैली का अनुसरण कर 'परिष्कार' के रूप में विषयप्रतिपादन किया गया है। प्राति-पदिकों के मौलिक स्वर का ज्ञान कराने के लिये शांतनवाचार्य प्रणीत फिट्सूत्र (४ पादों में ८७ सूत्र) भी पाणिनीय संप्रदाय में पढ़ाया जाता है। इस पर जयकृष्ण की सुबोधिनी टीका प्रकाशित है।

इतरव्याकरण-संप्रदाय

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

इस श्लोक में बोपदेव (१३वीं वि० श०) ने आठ आदिशाब्दिकों का निर्देश किया है। इनमें से इंद्र और चंद्र का विवरण आगे मिलेगा।

काशकृत्स्न और आपिशलि पाणिनि-पूर्वकालीन वैयाकरण थे तथा काशकृत्स्न के ग्रंथ में ३ भाग थे–यह पाणिनीय सूत्र (६-१-९२), काशिका (४-२-६७; ५-१-५८ ७-३-९५) और कैयट (५-१-२१) के उल्लेखों से स्पष्ट है। अमर यद्यपि कोशकार के रूप में सुपरिचित हैं, तथापि वे शाब्दिक भी कहे जा सकते हैं। उनके ग्रंथ की टीकाओं में सूत्रों से पदसिद्धि की गई है। शाकटायन और जैनेंद्र का विवरण आगे दिया जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि १३वें वि०श० में ये आठ संप्रदाय प्राचीन माने जाते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पाणिनीयेतर संप्रदायों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। पाणिनीयेतर संप्रदायों के संक्षिप्त विवरण देने के पूर्व यह आवश्यक है कि इन संप्रदायों के प्रादुर्भाव की आवश्यकता समझ ली जाय। पहले कहा जा चुका है कि पाणिनिसदृश महावैयाकरण द्वारा कड़े नियमों से जकड़ी जाने पर भी संस्कृत भाषा का रूप स्थिर न रहा। नये परिवर्तनों को मान्यता प्रदान करने के लिये कात्यायन आदि वैयाकरणों को नये नियम बनाने पड़े या पाणिनीय सूत्रों में हेरफेर कर उन परिवर्तनों को पाणिनि की चहारदीवारी में बैठाया गया। किंतु इस प्रयत्न में कृत्रिमता थी और साथ ही उत्तरकालीन परिवर्तनों को पाणिनि के सिर पर लादने में ऐतिहासिक सत्य का विपर्यास था। इतना सब करने पर भी ध्येय-सिद्धि पूर्णत: असंभव थी, क्योंकि परिवर्तनों की संख्या कालातिक्रम से बढ़ती ही जाती थी और पाणिनि की चौखट में इन सभी परिवर्तनों के लिये स्थान अपर्याप्त था। यह बात ठीक है कि संस्कृत भाषा अब केवल साहित्यिक या शिष्टभाषा थी और शनै: शनै: पंडित भाषा बन रही थी; अत: इस समय परि-वर्तनों का क्रम बहुत धीमा रहा होगा। लेकिन तो भी परिवर्तन काल पाकर दृष्टिगोचर होते ही थे। 'फलेग्रहि:' के समान 'मलग्रहि:', 'स्तनन्धय:' के समान 'आस्यन्धय:' और 'पुष्पन्धय:', 'नाडिन्धम:' के समान 'करन्धम:' पदों की उपपत्ति आवश्यक थी, जो कातंत्र व्याकरण में की गई है। पाणिनि के अनुसार म् के स्थान में अनुस्वार व्यंजन के पूर्व ही हो सकता है, अंत में नहीं। कातंत्र और सारस्वत संप्रदाय में अंत में भी अनुस्वार मान्य किया गया है। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट के ये श्लोक इस संबंध में मननीय हैं—

पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिशास्त्रं
केप्याहुस्तन्नचिन्त्यं न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम।
अङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्पाणिनेः प्राकथं वा
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः॥

फलत: उत्तरकालीन वैयाकरणों ने नवीन व्याकरण रचने में ही कल्याण देखा। अपने समय और प्रदेश में इन संप्रदायों ने उद्देश्यसिद्धि में सफलता पाई। प्रारंभिक छात्रों के लिये ये नवीन ग्रंथ अवश्य ही अधिक लाभदायक सिद्ध हुए होंगे। लेकिन ये नवीन व्याकरण अपने देशकाल की परिधि में ही फूले फले और पाणिनीय संप्रदाय की अखिलभारतीय कीर्ति इन्हें न मिली। इसकी कारणमीमांसा आगे की जायगी।

इंद्र संप्रदाय

सर्वप्रथम भाषा का व्याकरण (विश्लेषण) करनेवाले देवराज इंद्र के नाम से इस संप्रदाय का नाम चला। महाभाष्य में लिखा है कि बृहस्पति से सुदीर्घ काल तक भाषा का व्याकरण, प्रतिपदपाठ की पद्धति से, इंद्र ने पढ़ा, किंतु उससे विशेष लाभ नहीं हुआ। अत: सामान्य और विशेष नियम बनाकर इंद्र ने व्याकरण रचा होगा। इंद्र का व्याकरण आज अनुपलब्ध है। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि पाणिनि व्याकरण के कारण इंद्र व्याकरण तिरोभूत हुआ। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथ का कहना है कि इंद्र व्याकरण के आधार पर कातंत्र व्याकरण की रचना हुई। बर्नेल के कथनानुसार प्राचीन तामिल व्याकरण 'तोल्काप्पियम' इंद्र व्याकरण से अनेक अंशों में प्रभावित है। जो कुछ हो, वर्तमान समय में इंद्र व्याकरण का अस्तित्व केवल कथाओं में है।

कातंत्र व्याकरण

दक्षिणभारत के शातवाहन नृप शर्ववर्मन् (द्वितीय वि० श०) को अल्पकाल में व्याकरण सिखाने के लिये लगभग ८४० सूत्रों में, पाणिनिव्याकरण की जटिलताओं को बचाते हुए, यह सरल व्याकरण रचा गया था। मूल ग्रंथ में केवल संधि, शब्दरूप और धातुरूप थे। बाद में इसे अधिक

उपयोगी बनाने के लिये कृत् और तद्धित प्रकरण जोड़े गए। प्रत्याहार सूत्रों के स्थान में प्रचलित वर्णमाला काम में लाई गई है। गरुड़ पुराण में (२०३—४ अध्याय) कातंत्र व्याकरण के सूत्र और उदाहरण पद्यमय रूप में दिये गये हैं। बंगाल में १६, १७ वि० श० के वैयाकरणों ने ग्रंथ रचना कर इसे पाणिनि संप्रदाय के समकक्ष बनाने का प्रयत्न किया। बंगाल के कुछ जिलों में आज भी इसका प्रचार है। अष्टम वि० श० में दुर्गसिंह ने मूलग्रंथ पर वृत्ति लिखी थी। उसके पहिले से ही काश्मीर में कातंत्र का प्रचार प्रारंभ हो गया था। आज भी काश्मीर में पढ़ाए जानेवाले व्याकरण ग्रंथ कातंत्र-संप्रदाय के परिवर्तित संस्करण हैं।

चंद्र संप्रदाय

इसके प्रवर्तक बौद्ध विद्वान् चंद्रगोमिन् पंचम वि० शतक में हुए। महाभाष्य के उद्धारक चंद्राचार्य से ये भिन्न हैं या नहीं, इसमें संदेह है। इनके व्याकरण में पाणिनि से उल्लेखनीय विशेषता उन ३५ सूत्रों में है, जिन्हें कैयट ने अपाणिनीय कहा है और जो काशिकावृत्ति में नामोल्लेख किए बिना सन्निविष्ट किए गए हैं। चंद्रगोमिन् की स्वरचित वृत्ति आज अपूर्ण उपलब्ध है और धर्मदास की वृत्ति में अंतर्भूत है। बुद्धधर्मियों में इस संप्रदाय का विशेष प्रचार हुआ। सुना जाता है कि तिब्बत और लङ्का में इसके लघुसंस्करणों का आज भी प्रचार है*।

जैनेंद्र संप्रदाय

पंचम वि० श० में देवनंदिन् ने जैनेंद्र व्याकरण लिखा। पाणिनि संप्रदाय के सूत्रों और वार्तिकों को मिलाकर इसके सूत्र रचे गए। विभाषा, अन्यतरस्याम् के स्थान पर एकाक्षर 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है। एवमेव अप् (चतुर्थी), भा (पंचमी) आदि एकाक्षर पारिभाषिक शब्द गढ़कर लाघव किया गया है। इसके लघुसंस्करण पर अभयनंदिन् (८०० वि० श०) ने

---

* अग्निपुराण ३५६।८ में चान्द्र व्याकरण के अध्ययन का उल्लेख आया है।

और बड़े संस्करण पर सोमदेव (१२५० वि० श०) ने टीकाएँ लिखीं। दक्षिण भारत के दिगंबर जैन संप्रदायों में कहीं कहीं इसका प्रचार मिलता है।

शाकटायन संप्रदाय

इसके प्रवर्तक व्युत्पत्तिपक्षवादी शाकटायन से भिन्न हैं या नहीं, यह संदिग्ध है। उपलब्ध शाकटायन व्याकरण नवम वि० श० में श्वेतांबर जैनियों में प्रचारार्थ लिखा गया था। चंद्र और जैनेंद्र व्याकरणों का प्रभाव इसमें स्पष्ट है। ग्रंथकार ने स्वयं एक वृत्ति अमोघवृत्ति नामक लिखी है।

भोज-संप्रदाय

प्रसिद्ध नृप भोज ने ११वें वि० श० में सरस्वतीकंठाभरण नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा। इसके ६००० सूत्रों में सभी आवश्यक विषय उणादि-सूत्र, फिट्सूत्र आदि सम्मिलित कर लिए गए हैं। वैदिक व्याकरण का भी निरूपण किया गया है। मद्रास से संपूर्ण मूलग्रंथ हाल ही में प्रकाशित हुआ है। दंडनाथ की हृदयहारिणी टीका ४ खंड तक त्रिवेंद्रम् से प्रकाशित हो चुकी है। इस व्याकरण में पाणिनि के उत्तरकालीन परिवर्तनों को मान्य कर तदनुसार नियम दिए गए हैं।

हेमचंद्र संप्रदाय

प्रसिद्ध जैनविद्वान् हेमचंद्र (११ वाँ० वि० श०) का शब्दानुशासन ८ अध्यायों में है। अंतिम अध्याय में तत्कालीन प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया गया है। इसका अपर नाम सिद्धहेमचंद्र है, जिसमें 'सिद्ध' शब्द आश्रय-दाता सिद्धराज का स्मारक है। बृहद्वृत्ति और लघुवृत्ति नामक दो टीकाएं ग्रंथकार ने स्वयं लिखी हैं। सूत्रों का उदाहरण देने के लिये हेमचंद्र ने अत्यु-पयोगी द्व्याश्रय महाकाव्य की रचना की है।

सारस्वत संप्रदाय

मुसलमान शासकों की सुविधा के लिये ७०० सरल सूत्रों में सारस्वत व्याकरण की रचना की गई। आदिप्रवर्तक का नाम परंपरा के अनुसार

अनुभूतिस्वरूपाचार्य है, जिन्होंने (१३०० वि० सं०) सारस्वत प्रक्रिया नामक टीकाग्रंथ रचा था। सरलता और विद्यार्थियों के लिये उपयोगिता की दृष्टि से सारस्वत व्याकरण अप्रतिम है। उत्तर भारत में इसका प्रचलन ५० वर्ष पूर्व काफी व्यापक था। अँगरेजों को व्याकरण सिखाने के लिये इसका उपयोग किया गया था।

मुग्धबोध संप्रदाय

१३ वें वि० श० में दक्षिणभारत के बोपदेव ने यह सरल व्याकरण लिखा। पारिभाषिक शब्दों के परिवर्तन और इत्संज्ञक अक्षरों के अभाव के कारण पाणिनि व्याकरण से भेद अधिक हो गया है। उदाहरणों के रूप में देवताओं के नाम दिए गए हैं। सिद्धांत कौमुदी में भी ऐसे ही उदाहरण, मुग्धबोध के आधार पर, पाए जाते हैं। महाभाष्य और काशिका के खट्वा-ढकम् सदृश शुष्क उदाहरणों के स्थान में दैत्यारिः, श्रीशः सदृश धार्मिकभावपूर्ण उदाहरणों से निःसंदेह आकर्षण बढ़ गया है। भट्टोजिदीक्षित ने पाणिनीय-व्याकरणरूपी-गज के लिये बोपदेव को ग्राह कहा है। इसी से उस समय मुग्ध-बोध की प्रसिद्धि का अनुमान हो सकता है। अब तो केवल बंगाल में इसका प्रचार पाया जाता है। बोपदेव का कविकल्पद्रुम, जिसमें अंत्याक्षरों के क्रम से १७५४ धातुओं की सूची दी गई है, और उसकी कामधेनु टीका, जो उदाहरणों के रूप में बहुत से उद्धरणों के कारण उपादेय है, उल्लेख के योग्य हैं।

अन्य व्याकरण संप्रदाय

क्रमदीश्वर (९०० वि० श०) का संक्षिप्तसार, जो शैवधर्मियों में प्रचारार्थ लिखा गया है और जिसके अंतिम अष्टम पाद में प्राकृतभाषा का व्याकरण है, जुमरनंदिन् (११०० वि० श०) की रसवती वृत्ति के साथ पश्चिम बंगाल के कुछ भागों में अब भी प्रचलित है। मैथिल पद्मनाभदत्त (१३०० वि० श०) का सुपद्म व्याकरण मुग्धबोध की अपेक्षा पाणिनीय व्याकरण के अधिक सन्नि-कट है। अतः इसके विद्यार्थियों को, काव्यों की टीकाओं में उद्धृत पाणिनीय सूत्रों के कारण विशेष अड़चन नहीं पड़ती। मध्य बंगाल में कहीं कहीं इसका

प्रचार पाया जाता है। हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों में व्याकरण ज्ञान अधिक सुगम बनाने के लिये भी अनेक ग्रंथ लिखे गए। रूपगोस्वामिन् (१५०० वि० श०) के हरिनामामृत में उदाहरण ही नहीं पारिभाषिक शब्द भी धार्मिक भाव से अनुस्यूत हैं. जैसे वामन-ह्रस्वाक्षर, पुरुषोत्तम = दीर्घाक्षर आदि। एवमेव बलराम पंचानन के प्रबोध प्रकाश में शैव नामों की भरमार है, जैसे शिव = स्वर, हर = व्यंजन आदि। अनेक अप्रसिद्ध व्याकरणग्रंथ व्यक्ति विशेष के हितार्थ रचे गए थे। उनका नामोल्लेख भी यहाँ स्थानाभाववश असंभव है। नरहरि के बालबोध में यह दावा किया गया है कि १२ दिनों में पंच-महाकाव्य समझने लायक व्याकरण-ज्ञान इस पुस्तक की सहायता से कराया जा सकता है।

व्याकरणज्ञान कराने के उद्देश्य से लिखे गए उन काव्यग्रंथों का, जिन्हें क्षेमेंद्र काव्यशास्त्र की संज्ञा देते हैं, उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। भट्टि कवि का रावणवध, भीम कवि का रावणार्जुनीय काव्य और हेमचंद्र का द्व्याश्रय काव्य प्रसिद्ध हैं। इन्हें व्याकरण का परिशिष्ट कहा जाय तो अनुचित न होगा। इन काव्यशास्त्रों में प्रकरण के क्रम से व्याकरणनियमों के उदाहरण दिए गए हैं, जैसे लुङ् प्रकरण लिट् प्रकरण आदि के क्रम से विभिन्न धातुओं के रूप दिए गए हैं। हेमचंद्र ने स्वरचित सूत्रों के क्रम से अपने समस्त संस्कृत और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दिए हैं। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में हेमचंद्र का प्रकांड पांडित्य था। नारायणकृत सुभद्राहरण (२० सर्ग), वासुदेव का वासुदेवविजय और नारायण का धातुकाव्य काव्यशास्त्रों में उल्लेखनीय हैं। अंतिम दोनों ग्रंथ बंबई की काव्यमाला में प्रकाशित हैं। कविरहस्य नामक काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध धातुओं के भिन्न-भिन्न गणों में (लट् लकार, प्रथमपुरुष एकवचन के) रूपों को कवित्वपूर्ण श्लोकों में निबद्ध कर विषय को सरस बनाया गया है। प्रसिद्ध श्लोक 'धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकम् !......' उसी ग्रंथ का है।

संस्कृत व्याकरणग्रंथों का उपरिलिखित वर्णन केवल सिंहावलोकन है। वास्तव में संस्कृत का व्याकरण वाङ्मय अतिविशाल है, जिसके केवल मुख्य

मुख्य ग्रंथों का नामनिर्देश हो सका है। पाणिनीयेतर संप्रदायों के वर्णन में तो अतिक्षिप्र विहंगावलोकन किया गया है, मुख्य ग्रंथों का नाम निर्देश भी पूरी तरह नहीं किया जा सका है। प्रत्येक संप्रदाय में टीकाएँ उपटीकाएँ लिखी गई हैं और पाणिनीय संप्रदाय के समकक्ष बनने का प्रयत्न किया गया है। इन संप्रदायों में चंद्र का बौद्धों में एवं जैनेंद्र, शाकटायन और हेमचंद्र का जैनों में प्रचार हुआ। मुग्धबोध आदि व्याकरण वैष्णव, शैव आदि संप्रदायों के लिये या व्यक्ति-विशेष के लिये रचे गए थे। इनका मुख्य उद्देश्य सरल व्याकरण-रचना थी और उनका प्रचार बालछात्रों तक ही सीमित रहा। वे पाणिनीय व्याकरण की उच्च प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सके। इसका कारण यह है कि ज्यों ज्यों संस्कृत भाषा, दिनोंदिन प्रचार घटने के कारण, विद्वानों के अधिकाधिक आश्रय में आई, त्यों त्यों सुबोधता के स्थान में विद्वत्ता को अधिक महत्त्व दिया गया। तर्कपूर्ण विचारशैली, गहन शास्त्रावगाहन, उत्कट विद्वानों के द्वारा समादर, विद्वान् टीकाकारों का सहयोग—इन सब कारणों से पाणिनि-संप्रदाय के मुकाबिले ये संप्रदाय विद्वन्मान्य नहीं हो सके। दूसरी बात यह थी कि पाणिनीय शैली को सुबोध करने ही में नवीन संप्रदायों ने अपनी शक्ति लगाई, किसी नई आकर्षक शैली या पद्धति का आविष्कार नहीं किया। 'बालानां सुखबोधाय' ही इनकी आवश्यकता मानी गई और पाणिनीय व्याकरण का अनुकरण करने के कारण ये संप्रदाय सदैव नीचम्मन्य भावना के शिकार रहे। पाणिनीय संप्रदाय के सामने प्रतिद्वंद्वी बनकर ठहरने की इनमें क्षमता न थी। कुछ संप्रदायों ने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानात्मक टीकोपटीकाएँ लिखकर अपनी प्रतिष्ठा ऊँची भी की, किंतु यह भी अनुकरण ही था। प्राचीन के सामने नवीन अनुकरण कहाँ तक सफल हो सकता था? साथ ही इन प्रयत्नों से इन संप्रदायों की विशिष्टता पर आघात पहुँचता था, क्योंकि यदि पाणिनीय संप्रदाय के ग्रंथों के समान इन इतर संप्रदायों के भी ग्रंथ दुरूह रचे गए, तो सरलता के प्रारंभिक ध्येय से वंचित हो जाना स्वाभाविक था। सरल होने में प्रतिष्ठाहानि और कठिन होने में अनावश्यकता—इस दोषचक्र में पड़कर इतर व्याकरण संप्रदाय सांप्रदायिक ही रह गए, अखिलभारतीय न बन सके।

इधर पाणिनीय संप्रदाय को कैयट, भट्टोजी दीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्रधुरंधर विद्वानों के हाथ में पड़ने से विद्वत्समाज में विशेष प्रतिष्ठा और सम्मान मिला। इन विद्वानों ने अपनी प्रखर प्रतिभा से विचारोत्तेजक ग्रंथ रचकर इस संप्रदाय के प्रवाह को एक विशिष्ट धारा में प्रवाहित किया, जिसके कारण आज भी इसकी परंपरा बनी हुई है और भविष्य में भी विचारप्रिय व्याकरणप्रेमी, पदसाधुत्वज्ञान के लिये ही नहीं बल्कि बुद्धि पर धार रखने के लिये भी, इसका अध्ययन करेंगे। इस विशिष्टधारा का त्रिविध रूप—पदार्थचर्चा, न्यास और परिष्कार की परंपरा में दृष्टिगोचर होता है। **पदार्थ-चर्चा**—इसके कारण पाणिनीय व्याकरण केवल शब्दशास्त्र या पदविद्या न रहकर पदार्थशास्त्र माना जाने लगा। पदार्थविचार में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्ति, धात्वर्थ, प्रातिपदिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयों का समावेश होता है। इनमें से प्रत्येक का सम्यक् विचार वैयाकरणसिद्धांत भूषण, लघुमंजूषा आदि ग्रंथों में किया गया है। इस विचार में प्रसंग-प्रसंग पर न्याय और मीमांसा शास्त्र से व्याकरण का संघर्ष हुआ है। यथा नैयायिकों के मत से फल और व्यापार धात्वर्थ है, तिङ् का अर्थ कृति है। मीमांसक फल को धात्वर्थ मानते हैं, और व्यापार को तिङर्थ। इन दोनों के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते हैं और आश्रय (कर्तृ, कर्म) को तिङर्थ। नैयायिकों के अनुसार 'देवदत्तः ओदनं पचति' के शाब्दबोध में कर्ता विशेष्य है (जैसे वर्तमानकालिक-ओदनकर्मकपचनानुकूलव्यापाराश्रयो देवदत्तः)। वैयाकरणों के मत से शाब्दबोध में व्यापार विशेष्य है, (जैसे देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालीन ओदनकर्मकः पचनानुकूल व्यापारः)। ये दो अति स्पष्ट उदाहरणीय विषय पाठकों के सामने रखे गए हैं। संघर्ष का पूर्ण स्वरूप जानने के लिये ग्रंथों का पढ़ना आवश्यक है। प्रवेशेच्छुओं के लिये परमलघुमंजूषा लाभदायक है। इन संघर्षों में वैयाकरणों ने कभी पीठ नहीं दिखाई। स्फोटवाद के प्रतिपादन में वैयाकरणों ने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिक, शब्द को नित्य माननेवाले मीमांसक—इन दोनों की आक्षेपपूर्ण कमजोरियों से बुद्धिमत्तापूर्वक बचते हुए वैयाकरणों ने स्फोटवाद का नया सिद्धांत निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप

शब्द तो अनित्य है, किंतु स्फोटरूप शब्द नित्य है। अर्थ-प्रकाशन की क्षमता या वाचकता स्फोट में है, ध्वनि में नहीं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है। स्फोटवाद के प्रतिपादन में स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें से कुछ का नाम निर्देश पहले आ चुका है। इनके कारण विचारशास्त्र के रूप में व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ।

न्यास और परिष्कार—भाषा के परिवर्तनों से प्रभावित न हो पाणिनीय वैयाकरण जब केवल लक्षणैकचक्षुष्क बने, और उन्होंने सूत्रार्थव्याख्या तथा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता पर ही विचार करना प्रारंभ किया, तभी से मतस्वातंत्र्य में उनके बुद्धि-विकास का परिचय मिलने लगा। मूल ग्रंथ लिखना छोड़कर उत्तरकालीन वैयाकरण टीका उपटीका लिखने लगे, जिनका ध्येय मूल ग्रंथ का तात्पर्य प्रकाशन उतना नहीं था जितना मूल ग्रंथ में न दिए गए विषयों का प्रतिपादन और दिए गए मतों का खंडन था। प्रत्येक प्रसिद्ध वैयाकरण अपने पूर्ववर्ती वैयाकरण के मतों का खंडन करता था, और बाद में उसके मतों का उत्तरवर्ती वैयाकरण के हाथ से खंडन होता था। यह खंडन-मंडन-परंपरा वैयाकरण परंपरा में अद्यावधि चली आती है। इस परंपरा को स्थूल रूप से चार विभाग कर सकते हैं—प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन, नवीनतर। प्राचीनतर में वामन-जयादित्य, जिनेंद्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, प्रसादकार और प्रकाशकार। प्राचीन में भट्टोजी दीक्षित प्रधान हैं। नवीन में नागेश-भट्ट और वैद्यनाथ पायगुंडे मुख्य हैं। नवीनतर में शब्दरत्न, शब्देंदुशेखर, परिभाषेंदुशेखर पर विभिन्न टीकाकार हैं। इन चार परंपराओं में पूर्व परंपरा का उत्तर परंपरा में खंडन तो हुआ ही, किंतु प्रत्येक परंपरा के अंतर्गत विद्वानों में भी पूर्ववर्ती का खंडन परवर्ती करते थे, जैसे जिनेंद्रबुद्धि का खंडन हरदत्त ने किया। भट्टोजी दीक्षित ने इस खंडन-मंडन-परंपरा को खूब प्रोत्साहन दिया, फलस्वरूप उनके बाद के टीकाकारों का एकमात्र उद्देश्य खंडन-मंडन हो गया। नव्य न्याय की जटिल प्रतिपादन-शैली का व्याकरण-क्षेत्र में अवतीर्ण होने के पूर्व बुद्धि-तैक्ष्ण्य बढ़ाने के लिये न्यास-विचार होता था। पाणिनि के एक सूत्र को लेकर उसमें लाघव के लिये परिवर्तन करने के प्रयत्न को न्यास

कहते हैं। व्याकरण-संप्रदाय में अब यह पारिभाषिक शब्द हो गया है और काशिका वृत्ति की टीका न्यास से भिन्न है। सूत्र में परिवर्तन करने में क्या कठिनाई है, वह कठिनाई किस प्रकारांतर से दूर की जा सकती है; उस प्रकारांतर के आश्रयण से क्या अन्य कठिनाई उत्पन्न हो जायगी; उसका समाधान कैसे किया जाय इत्यादि काल्पनिक विषयों का ऐसा तर्कपूर्ण विचार, वादी-प्रतिवादी के बीच में, होता है कि बुद्धि दंग रह जाती है। भारतीय मस्तिष्क किस प्रकार अलौकिक क्षेत्र में बुद्धि के द्वारा आश्चर्यावह उड़ान कर सकता है, इसका उत्तम निदर्शन न्यास विचार है। वैयाकरणों के कुलों में ये शास्त्रविचार परंपरागत रहते थे, और समय-समय पर नई युक्तियाँ और समाधान जोड़े जाते थे। प्रत्येक गुरु-परंपरा अपनी-अपनी युक्तियाँ गुप्त रखती थी और शास्त्रार्थ में अवसर आने पर विरोधी को मूक करने के लिये प्रयोग करती थी। मुद्रण की सुविधा के कारण अब तो अनेक पुस्तकें छप गई हैं, जैसे वादरत्न (न्यास प्रकरण, सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा संपादित), पाणिनीय प्रदीप, न्यास-रत्न-माला आदि। इन मुद्रित पुस्तकों के कारण 'गुरुमुख' की महत्ता कम हो गई है। वाराणसेय संप्रदाय में नवीनतम परीपाटी न्यास नहीं, परिष्कार है। न्यास का प्रचार केवल वैयाकरण छात्रों के लिये है, विद्वन्मंडली तो नव्य न्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न-शैली में सूत्रार्थ व्याख्या को—परिष्कार को—महत्त्व देती है। इस शैली का प्रारंभ नागेश भट्ट के समय से होता है और ज्यों-ज्यों उत्तरकालीन टीकाएँ (जिनमें से कुछ का ऊपर नाम निर्देश हो चुका है) सामने आती हैं, त्यों त्यों व्याख्या का रूप-परिष्कार अधिक जटिल होता जाता है। उदाहरण के तौर पर परिभाषेंदुशेखर पर जयदेव मिश्र की विजया टीका और गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित लघुशब्देंदुशेखर का अनेकटीकोपेत नवीनतम संस्करण देखने लायक है। नित्यानंद पर्वतीय और उनके बाद गुरुप्रसाद शास्त्री ने परंपरागत टीकाओं को छापकर काशीस्थ वैयाकरण परंपरा की 'परिष्कार' संबंधिनी प्रखर प्रतिभा को मूर्त स्वरूप दे दिया है। सूर्यनारायण शुक्ल का वादरत्न (परिष्कार प्रकरण) वेणीमाधव शुक्ल की कौमुदीकल्पलतिका और परीक्षोपयोगी और शास्त्रार्थोपयोगी टीका सहित व्युत्पत्तिवाद का संस्करण इस विषय में उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काशीस्थ वैयाकरण संप्रदाय की चर्चा

करने में अनेक योग्य व्यक्तियों का अनुल्लेख अनादर-सूचक समझा जा सकता है। इसी से हमने संकोचपूर्वक प्रकाशित ग्रंथों के रचयिताओं और संपादकों ही का नाम लिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे विद्वान् जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ है उल्लेखनीय नहीं हैं। वास्तव में काशी में 'पुस्तकस्था' विद्या का उतना मान नहीं है, जितना 'कण्ठस्था' विद्या का। इस दृष्टि से गत विक्रमशतक (१९००–२०००) संवत् में काशीस्थ वैयाकरणों की परंपरा दिग्गजों की परंपरा थी और उनमें किसी विशेष विद्वान् का नाम न लेकर सबों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करना हमारा कर्तव्य है।

पाणिनीय वैयाकरणों की शास्त्रार्थ चर्चा के महत्त्व का परिचय आज के शिक्षित भारतीयों को नहीं है, यह खेद की बात है। उससे अधिक खेद की बात यह है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली और परीक्षा-पद्धति के चकाचौंध में पाणिनीय व्याकरण के नये विद्यार्थियों में भी शास्त्रार्थ करने की प्रवृत्ति दिनों-दिन कम हो रही है। शास्त्रार्थ चर्चा पूर्ववत् जारी रहे और इसमें भविष्य के वैयाकरण अपनी ओर से कुछ जोड़ सकें, इसके लिये यह आवश्यक है कि शास्त्रार्थ-संस्था को प्रोत्साहन दिया जाय। जैसे कोण के त्रिभागीकरण में या २ संख्या के वर्गमूल निकालने में उच्च गणित के विद्वानों का काल-यापन व्यर्थ नहीं माना जाता, वैसे ही वैयाकरणों की शास्त्रार्थ-कला भी निरर्थक नहीं है। इसमें बुद्धि को वह 'व्यायाम' मिलता है जिससे किसी भी बुद्धिगम्य विषय के विचार में सफलता पाना सहज हो जाता है। भारतीय वैयाकरणों की यह अद्यावधि उपार्जित और संवर्धित धरोहर नष्ट नहीं होनी चाहिए, क्योंकि विक्रम संवत् की द्वितीय सहस्राब्दी में भारतीय मस्तिष्क की उत्तमोत्तम सूझों में इसका प्रमुख स्थान है।

भारतीय वेष-भूषा

[श्री मोतीचंद्र, एम० ए०, पी०-एच० डी०]

भारतीय संस्कृति केवल आध्यात्मिक या दर्शनात्मक नहीं है। वास्तव में अध्यात्म या दर्शन उसका एक अंग है। भारतीयों के चतुर्वर्ग में धर्म और मोक्ष के साथ ही अर्थ और काम का भी स्थान है, जिनकी अभिव्यक्ति हमारी संस्कृति में दृष्टिगोचर है। हिंदुओं के ऐहिक जीवन की उच्चता और उनकी कला-प्रियता प्राचीन भारतीय साहित्य तथा कला-कृतियों से स्पष्ट विदित होती हैं।

किसी भी देश की संस्कृति का बाह्य स्वरूप वेष-भूषा द्वारा विशेष रूप से प्रकट होता है। भारत उष्ण-प्रधान देश है, अत: यहाँ के निवासियों का पहनावा प्राचीन काल में भी बहुत साधारण था। पुरुषों के लिये धोती, दुपट्टा, साफा और कमरबंद ही काफी थे। स्त्रियाँ साड़ी, ओढ़नी तथा आभूषण पहनती थीं। ये साधारण पहनावे भी बड़े आकर्षक ढंग से धारण किये जाते थे।

वैदिक और बौद्ध साहित्य में सिले हुए कपड़ों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में आनेवाले विदेशी प्राचीन काल में कुर्त्ता, चोगा, जामा, पायजामा और नुकीली टोपियों का व्यवहार करते थे; इसकी पुष्टि शकों और अन्य विदेशी लोगों की प्राचीन पाषाण-मूर्तियों से होती है। परंतु भारतीय पहनावा शताब्दियों तक पहले जैसा ही बना रहा।

गुप्त काल में पहनावे का ढंग अधिक सुंदर और आकर्षक हुआ। धोती और दुपट्टा अब भी पहने जाते थे, पर पगड़ी की जगह लोग भड़कीले मुकुट धारण करने लगे थे। इस काल की विशेषता यह हुई कि अब सिले हुए कपड़ों का भी व्यवहार होने लगा। ये कपड़े प्राय: सेवक-सेविकाएँ, सिपाही लोग और नर्तक पहनते थे। राजपरिवार के लोग इस काल में प्राय:

वस्त्र-रहित दिखाए गए हैं। शरीर के ऊर्ध्व भाग में सिले हुए वस्त्रों का पहनना विदेशियों के प्रभाव को सूचित करता है।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के बाद से वस्त्राभूषणों के जो प्रकार तत्कालीन मूर्तियों और चित्रों से उपलब्ध होते हैं वे प्रायः प्राचीन वस्त्राभूषणों के ही विभिन्न रूप हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं पाई जाती।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से, जब दिल्ली की तुर्की सल्तनत का आरंभ हुआ, राजदरबारों में तुर्की वेष-भूषा का फिर प्रचलन हुआ। परंतु इस काल में भी अधिकांश हिंदू जनता अपने साधारण वस्त्रों—धोती, पगड़ी और दुपट्टा—का ही व्यवहार करती रही।

विक्रम की सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध से मुगल लोग भारत में तुर्कों और ईरानियों की वेष-भूषा लाए। अकबर के समय मुग़ल-पहनावे का श्रीगणेश हुआ, जो तीन शताब्दियों से भी अधिक प्रचलित रहा। भारत का प्रत्येक युग अपना विशिष्ट पहनावा रखता है, जिससे प्रकट होता है कि यहाँ के लोग संसार के अन्य सभ्य लोगों की तरह ही कालानुसार अनेक प्रकार की धज को पसंद करते थे।

§ १—सिंधु-सभ्यता का काल

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कपड़े के टुकड़ों से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल में कताई-बुनाई का काम होता था और लोग ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के कपड़ों का व्यवहार करते थे। इस स्थान से मिली हुई एक मानव-प्रतिमा लंबा शाल या चादर ओढ़े हुए है। यह शाल इस प्रकार पहना गया है कि बायाँ कंधा ढक गया है और बाईं भुजा खुली हुई है[१]। दूसरी प्रतिमा में शाल इतना लंबा है कि वह पैरों तक पहुँच जाता है।

यह कहना कठिन है कि इस शाल के नीचे अधोभाग में कोई वस्त्र पहना जाता था कि नहीं। पुरुष-प्रतिमाएँ सिर के वस्त्र और आभूषणों को छोड़कर प्रायः वस्त्र-रहित हैं। परंतु महान् पुरुषों और देवियों की मूर्तियाँ

---

१ मार्शल—मोहेंजोदड़ो एंड दि इंडस सिविलिजेशन, भाग १, पृ० ३२-३३.

कमर में एक पतला सूती वस्त्र पहने हुए पाई गई हैं[१]। एक प्रतिमा लंबी कमीज सी पहने हुए मिली है, जो कमर के चारों ओर एक छोटी रस्सी से बँधी है। एक पुरुष की प्रतिमा सिमटा हुआ घाँघरा-सा पहने हुए है, जिसका ऊपरी छोर सामने दिखाया गया है[२]। हरप्पा से मिली हुई एक मूर्ति जाँघिया या धोती पहने हुए है[३]। इस काल में लोग अपने बाल पीछे की ओर एक बुने हुए डोरे से बाँधते थे, जैसा कि मोहेंजोदड़ो की प्रतिमाओं से प्रकट होता है।

इस काल में स्त्रियों की वेष-भूषा भी बहुत सादी रहती थी। आभूषणों को छोड़कर ये मूर्तियाँ कमर तक बिलकुल वस्त्र-रहित हैं। इनमें वस्त्र-खंड या साड़ी घुटनों के ऊपर तक पहनी गई है। कमर के चारों ओर यह वस्त्र एक पट्टे के द्वारा मजबूत बँधा हुआ है। एक स्थान पर वह किसी वस्तु के बुने हुए कमरबंद के द्वारा कसा हुआ है[४]। एक स्त्री मूर्ति इस प्रकार का वस्त्र पहने हुए है कि वह भुजाओं को ढक लेता है, पर स्तन खुले हुए हैं। कमर में बँधी हुई पतली कपड़े की चिट वैदिक साहित्य में उल्लिखित 'नीवि' से बहुत मिलती-जुलती है।

इस युग में पुरुष और स्त्रियाँ पंखे की शकल जैसी कोई वस्तु सिर पर धारण करती थीं। मैके महोदय का अनुमान है कि यह कड़ा किया हुआ सूती कपड़ा होगा, जो सिर के ऊपर एक विशेष ढाँचे के ऊपर रखा जाता रहा होगा। यह प्राय: आभूषणों से सज्जित रहता था। सिर के इस पहनावे में कहीं कहीं एक टोकरे जैसी वस्तु लगी हुई देखी जाती है; ऐसी मूर्तियाँ पृथिवी माता की प्रतीत होती हैं[५]। इन टोकरों में काजल जैसे धब्बे पाए गए हैं जिनसे प्रकट होता है कि उनपर दीपक जलाए जाते थे। मध्यकाल की

१ मैके—इंडस वैली सिविलिजेशन, पृ० १०३.

२ मैके—फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ो, भाग १, पृ० २५७; फलक ७१, चित्र नं० ३०-३२.

३ मैके—इंडस वैली सिविलिजेशन, पृ० १०३.

४ वही पृ० १०१.

५ मैके—फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ो, भाग १, पृ० २६१.

६ वही पृष्ठ० २६६.

दीप-लक्ष्मी-मूर्तियाँ मोहेंजोदड़ो की इन मूर्तियों से बहुत समानता रखती हैं। स्त्रियों की कुछ मूर्तियाँ सिर पर पगड़ी पहने भी मिली हैं।

कुछ पुरुष-प्रतिमाओं के गले में एक पतला दुपट्टा जैसा वस्त्र भी मिलता है। मैके के अनुसार यह दुपट्टा किसी विशेष पद या मत-ग्रहण करने का सूचक है। मोहेंजोदड़ो की कुछ मिट्टी की मूर्तियों के सिरों पर ढीली टोपियाँ भी मिली हैं। पुरुषों की टोपियाँ स्त्रियों की टोपियों से कुछ भिन्न हैं।

§ २—वैदिक काल

आर्यों को लोहा आदि खनिज पदार्थों का उपयोग सुविदित था। वे सोने और बहुमूल्य रत्नों का प्रयोग शरीर की सजावट में प्रचुरता से करते थे। ऊन कातने और बुनने की कला का उन्हें अच्छा ज्ञान था और उससे वे सुंदर कपड़े बनाते थे।

प्राय: ऊन (ऊर्णा) और उसके वस्त्रों का ही आर्य लोग व्यवहार करते थे। भेड़ का ऊन 'आविक'[१] कहलाता था, और भेड़ का नाम 'ऊर्णावती' (ऊनवाली) था[२]। सिंधु का काँठा 'सुवासा ऊर्णावती' (ऊनवाला) नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रदेश में बारीक कपास भी पैदा होती थी[३]। गंधार की भेड़ें अपने ऊन के लिये प्रसिद्ध थीं[४]। रावी के काँठे में भी रंगीन ऊन (शुंध्यव:) मिलता था।

साधारणतया स्त्री-पुरुषों की गृहस्थी में कंबल[५] और शामूल्य[६] का व्यवहार होता था। शामूल्य संभवत: गद्दा या तोशक के लिये आया है।

पशुओं के चर्म से भी वस्त्रों का काम लिया जाता था। देवता, मुनि, आर्य, अनार्य और व्रात्य सभी लोग चर्मों का प्रयोग करते थे। छाग (बकरा) और मृग (हिरण) के चर्मों का विशेष व्यवहार होता था। मृग-चर्म

---

१ बृहदारण्यक उपनि० २।३।६.

२ ऋ० ८।६७।३.

३ ऋ० १०।७५।८.

४ ऋ० १।१२६।७.

५ अथर्व० १४।२।६६-६७.

६ ऋ० १०।८५।२६; अथर्व० १४।१।२५.

(हरिणस्य जिन)[१] धारण कर 'देवता शत्रुओं को भयभीत करते थे।' मरुत् के द्वारा भी मृग-चर्म धारण करने के उल्लेख हैं[२]। मुनि लोग भूरे रंग के चर्म (पिशंग माल)[३] का उपयोग करते थे। व्रात्य लोग और उनके अनुयायी दोहरे (द्विसंहितानि) चर्म को व्यवहार में लाते थे। इनमें से एक काला और दूसरा सफ़ेद रंग का होता था (कृष्णवलक्ष)[४]। दस्यु या अनार्य लोग नृत्यों में कृत्ति और दूर्श नामक चर्मों को पहनते थे[५]। वे अजिन का भी प्रयोग करते थे[६]।

काले मृगों के चर्म प्रायः धार्मिक कृत्यों के समय व्यवहार में लाये जाते थे[७]। छाग-चर्म (अजर्षभ्यस्य अजिनम्) का भी उपयोग होता था[८]।

वैदिक साहित्य में अन्य कई प्रकार के कपड़ों के भी उल्लेख हैं। परंतु यह स्पष्ट नहीं कि वे किन वस्तुओं के बनते थे[९]।

बरासी—यह बरस् नामक एक सदाबहार पेड़ के रेशों से बनता था, जो उत्तर-पश्चिमी और हिमालय-प्रदेश में होता है[१०]।

दूर्श—इस वस्त्र का उल्लेख अथर्ववेद में आया है[११]। बौद्ध साहित्य में भी दुस्स नामक ऊनी कपड़े के एक प्रकार का वर्णन है। आजकल का धुस्सा

---

१ अथर्व० ५।२१।७.

२ ऋ० १।१६६।१०.

३ अथर्व० १०।१३६।२.

४ पंचविंश ब्राह्मण १७।१।१५.

५ अथर्व० ८।६।११.

६ अथर्व० ४।७।६

७ अथर्व० ५।२१।७; ६।१।१८५.

८ शत० ब्रा० ३।६।१।१२; ५।२।२१।२४.

९ काठक सं० १५।४; पंच० ब्रा० १८।६।६.

१० सुविमलचंद्र सरकार—सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ दि अर्लियस्ट सोशल हिस्ट्री आफ़ इंडिया, पृ० ६०.

११ अथर्व० ४।७।६; ८।६।११.

जो विशेषत: पंजाब में बनता है, प्राचीन दूर्श का ही आधुनिक रूप प्रतीत होता है।

क्षौम[१] और कुसुंभी रंग के क्षौम वस्त्रों (कौसुंभ परिधान)[२] के भी वर्णन मिलते हैं। डा० सरकार क्षौम को रेशम का एक प्रकार समझते हैं,[३] यद्यपि बाद के साहित्य में क्षौम शब्द सन-निर्मित वस्त्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

पांड्व[४]—यह राजाओं के द्वारा यज्ञों में पहिना जाता था। यह कहना कठिन है कि यह वस्त्र किस वस्तु से बनता था। हो सकता है कि टालेमी (७।१।९) द्वारा वर्णित झेलम और रावी के बीच के पांड्य प्रांत से यह वस्त्र बनकर आता रहा हो[५]।

तार्प्य[६]—डॉ० सरकार का विचार है कि यह बिहार प्रांत की खुरदरी रेशम का ही प्राचीन नाम है, जिसे आज कल 'टसर' कहते हैं। परंतु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं हैं। अन्य मतों के अनुसार यह सन का बारीक कपड़ा या रेशम का कपड़ा था[७]।

वैदिक काल में कपड़े बुनने का कार्य स्त्रियों को सौंपा गया था[८]। ऐसी स्त्रियाँ वायित्रि[९] या सिरि[१०] कहलाती थीं।

---

१ मैत्रायिणी सं० ३।६।७; तैत्ति० सं० ६।१।१।३.

२ शांखायन आरण्यक ११।४.

३ डा० सरकार की पुस्तक, पृ० ६०.

४ शत० ब्रा० ५।३।५।२१; मैत्रायिणी सं० ४।४।३.

५ अधिक विवेचना कि लिये देखिए टार्न कृत—दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एंड इंडिया, पृ० ५११-१२.

६ अथर्व० १८।४।३१; तैत्ति० सं० २।४।११।६; मैत्रा० सं० ४।४।३; तैत्ति० ब्रा० १।३।७।१; शत० ब्रा० ५।३।५।२०.

७ वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ३०८, नोट ३.

८ अथर्व० १०।७।४२; १४।२।५१.

९ पंचविंश ब्रा० १।८।९; शत० ३।१।२।१३.

१० ऋ० १०।७१।९.

ऋग्वेद तथा अन्य ग्रंथों में पहनावे के लिये वासस् शब्द प्रचलित था। वसन तथा वस्त्र शब्द एक ही अर्थ सूचित करते हैं। वैदिक आर्य सुंदर वस्त्रों को पसंद करते थे। 'सुवसन'[१] शब्द से अभिप्राय बढ़िया पोशाक से है। यह शब्द अच्छे ढंग से पहनने के लिये भी प्रयुक्त हुआ है[२]। 'सुवासस्' शब्द (अच्छे प्रकार से वस्त्र-सज्जित) का विशेषण रूप में प्रयोग प्रायः मिलता है[३]। 'सुरभि' शब्द से ज्ञात होता है कि कपड़े अच्छे प्रकार से शरीर पर फिट हो जाते थे[४]।

वैदिक काल में अच्छी पोशाक तैयार करनेवाले 'वासो वाय'[५] भी अवश्य रहे होंगे। वस्त्रों में प्रायः कसीदे के काम होते थे, और सुनहली जरी का काम ('हिरण्य अत्क') भी[६]। वस्त्रों में किनारी या पाढ़ भी होती थी जिस पर जरी का काम रहता था। ऐसी किनारी को सिच् कहा गया है[७]।

यज्ञों के अवसर पर रंगीन कपड़े धारण किए जाते थे[८]। वैसे साधारणतया सफेद वस्त्र (स्वित्र्यंचः) ही पहने जाते थे[९]। रंगीन सुनहले वस्त्रों को युवतियाँ पहनती थीं, जैसा कि ऊषाविषयक वर्णन से स्पष्ट है[१०]। व्रात्य गृहस्थ काले और नीले रंग के कपड़े तथा किनारे पसंद करते थे[११]।

---

१ ऋ० ६।५१।४.

२ ऋ० ९।६७।५०.

३ ऋ० १।१२४।७; ३।८।४.

४ ऋ० ६।२६।३.

५ ऋ० १०।२६।६.

६ ऋ० ५।५५।६.

७ ऐत० ब्रा० ७।३२; शत० ४।२।२।११.

८ शत० ३।१।२।१३.

९ ऋ० ७।३३।१.

१० ऋ० १।९२।४; १०।१।६.

११ पंचविंश ब्रा० १७।१४-१६.

ज्ञात होता है कि वैदिक काल में भारतीय तीन वस्त्र पहनते थे[१]—एक अधोवस्त्र (नीवि)[२] उसके ऊपर एक वस्त्र (वासस्) और एक उत्तरीय अधिवास[३], जो संभवतः आजकल के दुपट्टा या चादर की भाँति होता था।

नीवि और परिधान[४] साधारण वस्त्र थे, जिनको स्त्री-पुरुष समान रूप से धारण करते थे। नीवि में से दो छोर नीचे को लटकते थे।

वैदिक साहित्य में कपड़े पहनने के ढंग का वर्णन नहीं मिलता। 'वास' संज्ञक वस्त्र कमर में कस लिए जाते थे[५]। अधोवस्त्र के पहनने के लिये 'नीविंकृ'[६] शब्द आया है, जिससे सूचित होता है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष के द्वारा अपनी अपनी रुचि के अनुसार कमर में विभिन्न कलामयी गाँठें लगाकर यह वस्त्र धारण किया जाता था।

स्त्री-पुरुष अपने शरीर के ऊर्ध्वभाग को एक अन्य वस्त्र से ढकते थे, जो 'उपवसन', 'पर्याणहन' या 'अधिवास' होता था। यह या तो चद्दर की तरह लपेट लेनेवाला वस्त्र होता था, अथवा कसी होनेवाली जाकट या अँगिया या कंचुकी के रूप का होता था, जिसे प्रतिधि, द्रापि या अत्क कहा जाता था। उपवसन या तो दुपट्टा होता था जिसे विवाह के समय कन्या पहनती थी[७], या उत्तरीय के ढंग का होता था जिसका उदाहरण मुद्गलानी के वस्त्र में मिलता है, जो हवा में फहरता था[८]। 'पर्याणहन' नामक वस्त्र डा० सरकार के अनुसार एक लंबा बड़ा साफा था, जो हल्की बुनावट का होता था[९]। राजकुमारों

---

१ शत० ब्रा० ५।३।५।२०.

२ अथर्व० ८।२।१६; १२।३।५०.

३ ऋ० १।१४०।६; १०।५।४.

४ अथर्व० ८।२।१६; बृहदार० उप० ६।१।१०.

५ „ १४।२।७०.

६ „ ८।२।१६.

७ „ १४।२।४९.

८ ऋ० १०।१०२।२.

९ डा० सरकार की उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ६६.

के द्वारा 'अधिवास' नामक उत्तरीय वस्त्र धारण किया जाता था[१]। नव-विवाहिता वधू 'प्रतिधि' नामक वस्त्र अपने वक्षःस्थल पर पहनती थी, जो पीठ के ऊपर एक गाँठ से बँधा रहता था[२]।

उपर्युक्त वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ सिले हुए वस्त्रों के भी उल्लेख मिलते हैं। 'अत्क' नामक पुरुषों के पहनावे के वर्णन ऋग्वेद में मिलते हैं[४]। यह एक लंबा, सारे शरीर को ढकनेवाला, कसा हुआ लबादा जैसा था। उसे भड़कीला, सुंदर और सुनहले तागों से कढ़ा हुआ (हिरण्यैर्व्यूतम्) कहा गया है[३]। बाद के संस्कृत साहित्य में 'अत्क' शब्द नहीं मिलता। परंतु हर्षचरित में' चंडातक' नामक पद का प्रयोग है, जिसका कावेल ने घाँघरा अनुवाद किया है[५]। इस पद का 'आतक' वैदिक अत्क का ही पर्याय जान पड़ता है। आज-कल का अचकन भी संभवतः अत्क नाम से संबंधित है।

'पेशस्' नामक वस्त्र सुनहले बेल बूटों से युक्त, बड़े ही कलापूर्ण और पेचीले ढंग का बना हुआ होता था[६]। यह संभवतः कमीज के ढंग का होता था, जो इस कला में अभ्यस्त स्त्रियों (पेशाकारि) के द्वारा तैयार किया जाता था। नर्तकियों के बूटेदार आँचल, जो 'पेशवाज' कहलाते हैं, इसी पेशस् वस्त्र के अर्वाचीन रूप प्रतीत होते हैं[७]।

'द्रापि' नामक वस्त्र संभवतः जरी के कामवाला तना हुआ अँगरखा या वास्कट के समान होता था[८]। इसे विशिष्ट स्त्री-पुरुष धारण करते थे[९]।

१ शत० ब्रा० ५।४।४।३.

२ अथर्व० १४।१।७.

३ ऋ० १।६५।७; ४।१८।५.

४ ऋ० १।६५।७; ४।१८।५; २।३५।१४; ५।७४।५; ६।२९।३; ६।१०७।१३; १।१२२।१ आदि।

५ कावेल का हर्षचरित अनुवाद, पृ० २६१.

६ ऋ० ४।३६।७; २।३।६; १।९२।४-५.

७ वाज० सं० ३०।६; तैत्ति० ब्रा० ३।४।५।१.

८ ऋ० १।१६६।१०; १।२५।१३; अथर्व० १३।३।१.

९ ऋ० ६।१००।६; अथर्व० ५।७।१०.

प्राचीन वैदिक साहित्य में पगड़ी के लिये 'उष्णीश' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। व्रात्यों के द्वारा विशेष रूप से पगड़ी पहनने के उल्लेख मिलते हैं[१]। राजाओं के द्वारा भी इसका व्यवहार पाया जाता है। वे प्रायः वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञों के अवसर पर इसे धारण करते थे[२]। इंद्राणी ने भी अपने महिषी पद को सूचित करने के लिये पगड़ी पहनी थी[३]। ऐसा प्रतीत होता है कि राजपुत्र इस प्रकार से पगड़ी धारण करते थे कि उसके दोनों छोर लटकते थे।

व्रात्यों का 'उष्णीश' बिलकुल सफेद कहा गया है, संभवतः वह रूई का बना होता था।

प्राचीन वैदिक संहिताओं में जूते धारण करने के उल्लेख नहीं मिलते। 'वटुरिणापाद[४] नामक पैर का पहिनावा शायद पैरों की रक्षा के लिये युद्धक्षेत्र में व्यवहृत होता था। यह सभवतः भारी होता था। इसी प्रकार 'पत्संगिनी'[५] नामक पहनावे का भी प्रयोग होता था। 'उपानह' शब्द यजुर्वेद, अथर्व और ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है[६]। धार्मिक कृत्यों में वह पहिना जाता था, विशेषतः व्रात्य उसका उपयोग करते थे[७]। यज्ञों में पहनी जानेवाली खड़ाऊँ मृग या वराह के चर्म की होती थी[८]।

§३ प्राक् मौर्य काल (६४२—३२० ई० पू०)

इस काल में सूत कातने और बुनने की कला खूब विकसित हुई। कपास के खेतों के उल्लेख बहुत मिलते हैं[९]।

---

१ अथर्व० १४।२।१; ऐत० ब्रा० ६।१.

२ शत० ५।३।५।२३; मैत्रा० सं० ४।४।३.

३ ,, ५।३।५।२५.

४ ऋ० १।१३३।२.

५ अथर्व० ५।२१।१०.

६ तैत्ति० सं० ५।४।४।४; अथर्व० २०।१३३।४; शत० ब्रा० ५।४।३।१६.

७ पंच० ब्रा० १७।१४।१६.

८ शत० ब्रा० ५।४।३।१६.

९ कप्पासखेत्तजातक (जातक भाग ३, सं० २८६), महाजनक जा० आदि,

जातकों में कपास, रेशम, सन और कोटुंबर के वस्त्रों के वर्णन मिलते हैं।

कदाहं कप्पास कोसेय्यं खोमकोटुंबरानि च[१]।

बुद्ध के समय में काशी का कपास विशेषतया कपड़ों के निर्माण में व्यवहृत होता था। काशी के बने वस्त्र 'कासीकुत्तम', 'कासीयानि', 'कासिकवत्थ' और 'वाराणसेय्यक नामों से विश्रुत थे[२]। ये ऐसे बढ़िया और चिकने होते थे कि उनमें तेल नहीं सोखता था[३]।

बनारस में रेशम भी होता था[४]; और संभवत: उस काल में भी वर्तमान समय की तरह बिहार और काशी रेशमी वस्त्रों को तैयार करने के प्रधान केंद्र थे। म० बुद्ध ने भिक्षुओं को रेशमी चादर ('कौसेय प्रावार') को व्यवहार में लाने की अनुमति दी थी[५]।

चौम या पटसन के वस्त्र भी बनते थे। भिक्षु लोग चौम-चीवर[६] धारण करते थे। चौम और ऊन के बने कंबलों का भी भिक्षुओं द्वारा व्यवहार होता था[७]।

कोटुंबर वस्त्र ऊन, वल्कल या कपास के बने होते होंगे जो संभवत: औदुंबरों के प्रदेश में बनते थे।[८]

ऊन के लिये बौद्ध साहित्य में 'कंबल' शब्द का प्रयोग मिलता है[९]। जातकों में गांधार के लाल कंबलों की प्रशंसा की गई है—

---

१ महाजनक जातक (जातक भाग ६, सं० ४७)

२ जातक भाग ६, पृ० ४७; पृ० ५००; महापरिनिब्बान सुत्त ५।२६.

३ ,, ,, १, ३३५; ६।१५१. आदि।

४ जातकों का अनुवाद, भाग ६, पृ० ७७.

५ महावग्ग ८।१।३६.

६ महावग्ग ८।३।१.

७ महावग्ग ८।२.

८ प्रिजलस्की—'प्री आर्यन एंड प्री द्रविडियन इन इंडिया' (बाग्ची द्वारा अनुवादित) पृ० १६०.

९ महावग्ग ८।३।१.

(इंदगोपकवण्णाभा गंधारा पंडुकंबला)[१]

शिवि जनपद (दक्षिणी पंजाब) के शाल प्रसिद्ध थे। 'सिवेय्यक दुस्स' का बौद्ध साहित्य में बहुत बखान है[२]। कोशल के राजा ने दसबल नामक बौद्ध को शतसहस्र मुद्राओं के मूल्य का शिवि जनपद का एक कपड़ा उपहार में दिया था (सत सहस्सग्घनकम् सिवेय्यकवत्थम्)[३] प्राचीन दुस्स रूप इस समय भी हिंदी और पंजाबी में 'धुस्सा' नाम से प्रचलित है जो एक विशेष प्रकार की ऊनी चादर के लिये प्रयुक्त होता है।

वाहीक (सिंधु तथा सतलज-व्यास के बीच का प्रदेश) भी ऊनी वस्त्रों (वाहीतिक) के लिये प्रसिद्ध था।[४]

शौकीनी ऊनी वस्त्र—नम्दा ('नम्तक'), चिकने और बारीक कंबल ('कोजव') आदि भी व्यवहार में लाये जाते थे, परंतु भिक्षुणियों के लिये उनका निषेध था।[५]

उपर्युक्त वस्त्रों के अतिरिक्त सन ('शण')[६] और 'भाग' के भी वस्त्र बनाये जाते थे। कुमाऊँ जिले में 'भाग' नामक वृक्ष की छाल के 'भागेला' नामक वस्त्र आजकल भी तैयार होते हैं।

चर्म (अजिन) के भी कपड़ों का जातकों में उल्लेख है[७]। संभवतः इस काल में शेर, चीता, तेंदुआ, गाय और मृग के चर्म पहनने और बिछाने आदि के काम में आते थे[८]। मध्यदेश में 'एरगु', 'मोरकु' और बिल्ली

---

१ जातक भाग ६, पृ० ५००.

२ महावग्ग ८।१।२९

३ शिवि जातक, भाग ४, पृ० ४०१.

४ मज्झिमनिकाय २।४।८.

५ चुल्लवग्ग १०।१०।४; महावग्ग ८।१।३६.

६ महावग्ग ८।३।१.

७ जातक भाग ६, पृ० ५००.

८ महावग्ग ५।१०।५।७.

(मज्जारु) के चमड़े बिछाने के काम में आते थे। दक्षिणापथ में भेड़ बकरियों के चर्म से यही काम लिया जाता था[१]। इन प्रदेशों में भिक्षु लोग भी इन चमड़ों का व्यवहार कर सकते थे।

कुछ प्रकार के वस्त्र यद्यपि अन्य लोग प्रयोग में लाते थे, परंतु भिक्षुओं के लिये वे वर्जित थे। ये वस्त्र कुशा घास के (कुशाचीर)[२], पेड़ की छाल के (वल्कल) और जंगली लकड़ी के (फलक) थे। इसी प्रकार मनुष्यों के बालों के (केसकंबल, बालकंबल), उल्लू के पंखों के, मृगचर्म के टुकड़ों के बने हुए ('अजिनक्षिप') और मंदार के रेशेदार डंठलों से बने हुए वस्त्र भी भिक्षुओं के लिये वर्जित थे।

नफ़ीस और रंगीन परिधानों का भी भिक्षुओं के लिये निषेध था। परंतु अन्य लोग इन्हें शौक से धारण करते थे। ये वस्त्र नीले, पीले, लाल, मजीठी, काले और हल्दी के रंगों में रँगे जाते थे[३]। कटी किनारी, लंबी किनारी, बेलबूटेदार किनारी, साँप के फन जैसी किनारी वाले वस्त्र भी पहने जाते थे, यद्यपि भिक्षुओं के लिये इनका निषेध था। कंचुक का भी प्रयोग भिक्षुओं के लिये वर्जित था[४]।

भिक्षुओं और भिक्षुणियों का पहनावा एक जैसा ही था। तीन पीले वस्त्र धारण किए जाते थे। पहला 'संघाटी' या दोहरा कमर का चद्दरा था। दूसरा 'अंतर्वासक' या निचला वस्त्र होता था, और तीसरा 'उत्तरासंग', या उत्तरीय चादर था[५]। इन परिधानों के अतिरिक्त बैठने के लिये एक आसन (प्रत्यस्तरण), एक कौपीन, जो शरीर में खुजली आदि होने पर उपयोग में लाया जाता था (कण्डूक प्रतिच्छादन)[६], और वर्षा में एक दूसरा लँगोट भी

---

१ महावग्ग ५।१३।६.

२ " ८।२८।२-३.

३ ,, ८।२९।१.

४ " "

५ " ८।१३।४५.

६ भिक्खुपातिमोक्ख ५।३९।९०; महावग्ग ८।१७।२.

भिक्षुओं को रखने की अनुमति थी। भिक्षुणी कंचुकी का भी व्यवहार करती थीं[1]।

भिक्षु लोग आयोग पट्ट भी धारण करते थे। यह वस्त्र दोनों पैरों के सामने से लपेट कर पीठ की ओर बाँधा जाता था।

करघा (तंतक), ढरकी (वेमक), डोरियाँ (वट्ट) और शलाका का प्रयोग भिक्षु करते थे[2]। साधारण रूप से और पेचीदे ढंग से बनी हुई पट्टियोंवाले कमरबंद (कायबंध) भी भिक्षुओं द्वारा व्यवहृत होते थे। कमरबंद के किनारों को सुरक्षित बनाने के लिये उन्हें पीछे की ओर मोड़कर सी दिया जाता था। इस प्रकार के विशेष सीने के ढंग को 'शोभक' कहते थे[3]। किनारों के सीने से एक समान चतुर्भुज जैसा बन जाता था, जिसे 'गुणक' कहते थे[4]। कमरबंद में बाँधने का पक्खा या हुक ('वीठ') भी लगा रहता था। यह हड्डी, शंख और तागे या तार का बना होता था। भिक्षुओं के लिये चाँदी और सोने के 'वीठ' बहुत वर्जित थे[5]। परंतु बटन (गंठि, घुंडी) और मुद्धी (पासक) का लगाना अनुमत था। उनके बटन हड्डी, शंख और तारों के बनते थे; सोने-चाँदी के कभी नहीं। कपड़े के टुकड़े वस्त्रों के ऊपर सीं कर फिर उन पर बटन और बंद लगा दिये जाते थे[6]।

भिक्षु लोग सुइयों ('सूची') से अपने वस्त्र सीते थे, जो चिड़ियों के नुकीले पंखों या बाँस की पतली फरचियों की होती थीं। ये सुइयाँ मोम के घोटवाली नलियों (सूची नलिका) में रखी जाती थीं[7]। वस्त्र सीने का पुराना तरीका यह था कि कपड़ा फैलाकर किनारों पर कीलों से कस दिया जाता था। कपड़े

---

१ भिक्खुनीपातिमोक्ख ४।४०।९६.

२ चुल्लवग्ग ५।२०।२.

३ चुल्लवग्ग ५।२६।२.

४ चुल्लवग्ग ५।२६।२.

५ चुल्लवग्ग ५।२६।२.

६ चुल्लवग्ग ५।२६।३.

७ चुल्लवग्ग ५।११।२.

बुनने के लिए लकड़ी का चौखटा ('कठिन') होता था, जिसमें कसने के लिये डोरें लगी रहती थीं। यह बराबर भूमि पर पयाल की गद्दी पर फैला दिया जाता था, जिससे धूल न लगने पावे। और तब उस पर कपड़ा तैयार किया जाता था[१]। चौखटे के साथ सीधे डंडे (दण्ड कठिन), खूँटियाँ (पिदलक) बाँस की शलाकाएँ और डोरियाँ भी रहती थीं।

सीने का कार्य बड़े कला पूर्ण ढंग से होता था, जिससे सिलाई का सौंदर्य न बिगड़ने पावे। सिलाई टेढी मेढी ('सुत्तान्तरिका') न हो जाय, इसके लिये कपड़े में चुन्नट डाल ली जाती थीं, जिससे तागा समानांतर रेखाओं में ('कंबलक') सीधे बिंधता हुआ जाता था। इसी हेतु अधिक अंतर देते हुए भी लंबे टाँके (मोघ सुत्तक) लगाए जाते थे[२]। दर्जियों की सुई चुभने से बचानेवाली उँगली की टोपी ('प्रतिग्रह') का भी व्यवहार किया जाता था। ये सोने, चाँदी, शंख या हड्डी की होती थीं। कैंची (सत्थक) का भी प्रयोग होता था। सुरक्षित रखने के लिये ये वस्तुएँ छोटे थैलों (आवेसन वित्थक) में रखी जाती थीं[३]।

साधारण पुरुषों के पहनावे में तीन वस्त्र होते थे—अधोवस्त्र (अंतर्वासक), उत्तरीय ('उत्तरासंग') और पगड़ी (उष्णीष)[४]। छोटा कुर्ता या कुर्ती (कंचुक) का भी उल्लेख मिलता है। इसे पुरुष-स्त्री दोनों पहनते थे[५]। धर्मसूत्र ग्रंथों में कंचुक के वर्णन हैं[६]। यह वस्त्र आजकल के कुर्ते, जाकट या कोट की तरह रहता होगा जो जाँघों तक या घुटनों के पास तक लंबा रहता होगा।

---

१ चुल्लवग्ग ५।११।३.

२ चुल्लवग्ग ५।११।३.

३ चुल्लवग्ग ५।११।५.

४ महावग्ग ८।२९।१.

५ महावग्ग ८।२९।१.; भिक्खुनी पातिमोक्ख, ४।४० ९६.

६ आपस्तंब ध० सू० (बूलर का अनु० पृ० १४). वेष्टित्युपवेष्टितो कञ्चुक्योपानहोपादकी।

अधोवस्त्र आदि के पहनने के कई तरीके प्रचलित थे। 'हस्तिशौंडिक' (हाथी की सूँड़) नामक ढंग में कपड़े का पलेटदार छोर उसी प्रकार नीचे की ओर लटकता था जिस प्रकार चोल देश की महिलाओं की साड़ियों का पलेटदार किनारा। 'मत्स्यवालक' नामक तरीका वह था जिसमें वस्त्र की लंबाई और चैड़ाई के किनारे मछली के पिछले भाग या पूँछ के प्रकार की पलेटों से युक्त होते थे। 'चतुष्कर्णक' नामक ढंग में वस्त्र के चार कोने दिखाई पड़ते थे। कंचुक में या बगल में कटे हुए कंचुक में ही यह प्रकार सम्भव था। 'तालवृंतक' में कपड़े इस प्रकार पहने जाते थे कि अधोवस्त्र का चुन्नटदार लटकता हुआ छोर ताड़ के पत्ते के रूप का हो जाता था। शतवल्लिक नामक ढंग में वस्त्र में बहुत सी पलेटें और चुन्नटें दिखाई जाती थीं। वस्त्र को धारण करने के समय उसका छोर पीछे खोंस लिया जाता था। परंतु भिक्षुओं के लिये ऐसा करने का निषेध था[१]।

कमरबंद ('कायबंधन') बहुत प्रकार के शौकीनी ढंगों से बाँधा जाता था। कलावुक (अनेक डोरियों की पलेटी हुई), देड्डुभक (पनिहा साँप के फन की शकलवाली), मुरज आदि विभिन्न प्रकार के कमरबंदों के नाम थे। ऐसी मेखला जिससे आभूषण लटकते रहते थे 'मद्दवीन' कहलाती थी[२]।

इस काल में स्त्रियाँ अनेक वस्तुओं के बने कमरबंद और पटके अनेक ढंगों से धारण करती थीं। भिक्षुणियों के लिये ऐसे फैशन वर्जित थे। 'पटका' बाँस के बुने हुए रेशों (वीडिव), चमड़ा (चर्मपट्ट), ऊनी वस्त्र (दुस्सपट्ट), पलेटदार ऊनी वस्त्र (दुस्स वेणी), झालरदार वस्त्र (दुस्सवट्टी), चोल देश (संभवतः आधुनिक बल्ख का दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश)[३], के अनेक भाँति के वस्त्रों (चोलवेणी, चोलवट्टी) और पलेटदार रुई के वस्त्रों से बनते थे[४]।

---

१ चुल्लवग्ग ५।२९।४.

२ वही ५।२६।२.

३ देखिए, जयचंद्र विद्यालंकार कृत भारतभूमि और उसके निवासी पृ० १३३, ३१३,३१९. बल्ख का दक्खिन-पच्छिमी भाग अब भी चोल कहलाता है।

४ चुल्लवग्ग १०।१०।१.

जूते और खड़ाऊँ भी, जो अनेक प्रकार के रंग और वस्तुओं के बने होते थे, पहनावे की प्रधान वस्तुएँ थीं। जूते एक, दो या तीन तलों के होते थे, चमड़ा पीला, लाल, मजीठी, काला या अन्य विविध रंगों में रँगा हुआ होता था। भिक्षु प्रायः केवल एक तले का ही जूता व्यवहार में लाते थे[१]।

जन साधारण कई प्रकार के जूते पहनते थे। ये जूते कोई तो पूरे टखनों तक (पुटबद्ध), कोई पूरे बूट की तरह (पडिगुंठिम), कुछ पहलदार या रुई भरे हुए (तूलपुण्णिक) होते थे। कोई जूते तीतर के पंखों की बनावट जैसे (तित्तिरपत्तिक), कोई भेड़-बकरियों की सींगों से सज्जित, कोई बिच्छू के डंक की तरह टेढ़ी नोकवाले तथा कुछ मोर के पंखों आदि से अलंकृत होते थे। भिक्षु ऐसे जूते नहीं पहन सकते थे[२]।

सीमांत के गणराज्यों में जहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव नहीं पहुँच सका था, भिक्षु लोग वहाँ के बने जूतों का व्यवहार करते थे[३]। चीता, शेर, तेंदुआ, मृग, ऊदबिलाव, बिल्ली, गिलहरी और उल्लूक के चमड़ों से भी जूते बनाए जाते थे[४]। मोची (चम्मकार) के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में बहुत मिलते हैं[५]।

लकड़ी की खड़ाऊँ (पादुका) तथा खजूर की पत्तियों और बाँस की बनी हुई खड़ाऊँ का उपयोग साधारण जन करते थे[६]। इनके अतिरिक्त पयाल, मूँज, हिंताल, कमल, बल्वज नामक घास और कम्बल से बनी हुई खड़ाऊँ भी संभवतः व्यवहार में लाई जाती थीं। कुछ लोग सोना, चाँदी, रत्न, पीरोजा, बिल्लौर, कांसा, शीशा, टीन और ताँबे की

---

१ महावग्ग ५।२।१; ५।३।२.

२ महावग्ग ५।२।३.

३ " ५।१३।६.

४ " ५।२।४.

५ उदाहरणार्थ, कामजातक (जा० भाग ४, सं० १७२)

६ महावग्ग ५।७।१.

जटित खड़ाऊँ पहनते थे। भिक्षुओं के लिये उपर्युक्त सभी प्रकार की खड़ाऊँ वर्जित थीं[१]।

§ ४—मौर्य-शुंग और शक-सातवाहन काल (३२० ई० पू० से ई० सन् के आरम्भ तक)

इस काल में साहित्य के अतिरिक्त तत्कालीन शिल्पकला और मूर्तिकला से वेष-भूषा पर काफी प्रकाश पड़ता है, जिनसे ज्ञात होता है कि जातकों और विनय पिटक की वेषभूषा मौर्य और शुंग-सातवाहन कालों में भी प्रचलित रही।

अर्थशास्त्र में एक पूरा अध्याय ही सूत्राध्यक्ष के कर्तव्यों के विषय में है। सिलाई के विभाग में तागे (सूत्र), कवच (वर्म), अनेक प्रकार के कपड़े (वस्त्र), सूत या रेशों की बटी रस्सियाँ (रज्जु) आदि निर्मित होते थे। इन वस्तुओं के तैयार करने में ऊन (ऊर्ण), रेशे (वल्क), कपास (कर्पास), तूल, सन (शण) और पटसन (क्षौम) का प्रयोग होता था। वैदिक काल की तरह अब भी स्त्रियाँ ही कातने-बुनने का काम करती थीं। क्षौम, दुकूल (दुकूल नामक पौदे के रेशों से निर्मित वस्त्र), रेशम (कृमितान-हिंदी कतान), ऊन (रांकव) के वस्त्र और सूती वस्त्र तैयार करनेवालों को उनके वेतनों के अतिरिक्त अनेक उपहार और इनाम दिए जाते थे। सूत्राध्यक्ष के इस विभाग में बिछौने पर की चादरें (वस्त्रास्तरण) और पर्दे (प्रावरण) भी बनते थे[२]।

मौर्य काल में और उसके पश्चात् के युगों में कपास का व्यवहार बहुत होता था। सभापर्व (२।५१।८) में कार्पासिक (?) नामक प्रदेश का उल्लेख है। कांबोज (बदख्शां और पामीर) के जरी के काम के बेल-बूटेदार ऊनी शाल (जातरूपपरिष्कृत और्ण), बिलों में रहनेवाले जानवरों की खालों के वस्त्र (बैल) और जंगली बिडालों के चर्मवस्त्र (वार्षदंश) प्रसिद्ध थे जो कि समूर जान पड़ते हैं। आभीर लोगों ने अनेक भाँति के ऊनी कंबल जो भेड़-बकरियों

---

१ महावग्ग ५।८।३.

२ अर्थशास्त्र—शाम शास्त्री का संस्करण, पृ० ११३।१४.

की मुलायम ऊन के थे, तथा ऊन और मृगों के बालों से बने हुए (रांकव:) सुंदर रंगोंवाले बड़े शाल जो चीन और वाल्हीक में बने थे युधिष्ठिर को राजसूय के अवसर पर उपहार में दिए थे[1]।

रेशम (कौशेय) का उल्लेख अर्थशास्त्र के अतिरिक्त महाभारत[2] और यूनानी लेखकों के वर्णनों में हैं। अरस्तू ने भी कोस नामक स्थान में बनाए जानेवाले रेशम के वस्त्रों का उल्लेख किया है[3]।

एरियन ने मेगास्थनीज के वर्णन के आधार पर जिस भारतीय वेष-भूषा का परिचय दिया है, प्राय: वही प्रथम श० ई० पूर्व के अंत तक बनी रही। एरियन ने लिखा है कि भारत के लोग एक सूती अधोवस्त्र पहनते हैं, जो घुटने के नीचे लगभग टखनों तक पहुँचता है, और एक उत्तरीय, जिसे वे कुछ तो अपने कंधों के ऊपर डाल लेते हैं, और कुछ अपने सिरों के चारों ओर लपेट लेते हैं[4]। इस काल की परखम, बड़ोदा, बेसनगर और दीदारगंज की मूर्तियाँ भी इस प्रकार के वेष-का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। द्वितीय शती ई० पू० के अंत की भारहुत की और प्रथम श० ई० पू० की साँची की उत्कीर्ण मूर्तियाँ भी इस बात की पुष्टि करती हैं।

परखम और बड़ोदा की यक्ष-मूर्तियों में अधोवस्त्र तथा उत्तरीय हैं; परंतु पगड़ी नहीं है। परंतु संभवत: इसी काल के सारनाथ से मिले हुए एक पत्थर मूर्ति के सिर पर वैसी ही पगड़ी है जैसी मुगलकालीन चित्रों में पाई जाती है[5]।

मौर्य काल के उत्तरार्द्ध में स्त्रियों का पहनावा बेसनगर और दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्तियों की वेष भूषा से प्रकट होता है। पिछली मूर्ति एक कटि-वस्त्र

---

१ सभापर्व ५१।२६.

२ सभापर्व ५१।२६.

३ मैक्रिंडल, एंशियंट इंडिया, पृ० २६.

४ ” ” ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थनीज एंड ऐरियन, पृ० २१६.

५ कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट, फलक ५, चित्र १५; फलक ६, चित्र १८.

धारण किए हुए है, जो टखनों तक पहुँचता है, और कमर में एक पाँच लड़वाली मेखला से कसा हुआ है। यह मूर्ति एक पटका (बौद्ध ग्रंथों का कासुका) पहने है, जिसका एक टेढ़ा किनारा कटिवस्त्र में खोंसा आ है और दूसरा पैरों के बीच में लटकता है। दाहिने कंधे से लिपटा हुआ एक दुपट्टा नीचे लटकता है। बेसनगर की यक्षिणी-मूर्ति एक कटि वस्त्र धारण किए हुए है, जो घुटनों के कुछ नीचे तक पहुँचता है। कमर में पाँच लड़ियों की मेखला कसी है जिसके ऊपर ढीली कमरबंद है, जो तितलीनुमा गाँठ में बँधी है और जिसका एक छोर नीचे लटकता है। कटि-वस्त्र में नाभि के कुछ नीचे जो पटका खोंसा हुआ है, वह पलेटदार किनारों का है।

भारहुत से मिली हुई मूर्तियों में पुरुषों का प्रधान पहनावा धोती है। यह वस्त्र कमर के चारों ओर लपेटकर सामने की ओर समेटा जाता था, और फिर दोनों पैरों में से निकालकर पीछे बाँध दिया जाता था। इन सब मूर्तियों में धोती घुटनों के नीचे, पैर के मध्य तक पहुँचती है। ये धोतियाँ बिलकुल सादी हैं, और इन पर किसी पशु-पौदे के चित्र नहीं हैं, यद्यपि स्ट्रैबो के कथनानुसार इस काल में भारतीय जरी के काम के, बहुमूल्य पत्थरों से जटित तथा फूलों की आकृति से चित्रित बढ़िया तनजेब के कपड़े पहनते थे[१]।

धोती कमर में कमरबंद या फेंटे के द्वारा सँभालकर तितलीनुमा पक्खे या गाँठ से बँधी हुई है, जिसका एक फंदा एक तरफ लटकता है, और कमरबंद के दो छुट्टा सिरे दूसरी ओर। पटका या तो बेलबूटेदार कपड़े की पतली पट्टी का होता था[२], या सादे कपड़े का[३], जिसके दोनों छोरों पर लंबी झालरें रहती थीं। यह ढीली डोरों का भी बनता था, जिनके दोनों छोर आभूषित झब्बों से युक्त होते थे। कभी कभी वे बिना झब्बों के सादे ही होते थे।

मूर्तियों में कमर के ऊपर का अंग एक हलके दुपट्टे को छोड़ प्रायः वस्त्ररहित रहता था। यह दुपट्टा कई प्रकार से पहना जाता था। सबसे

१ मैक्रिंडल—मेगास्थनीज एंड एरियन पृ० ७०.

२ बरुआ—ऐस्पेक्ट्स ऑफ लाइफ एंड आर्ट फलक ५८, चित्र ६३.

३ " " " " ६४.

साधारण ढंग वह था जिसमें दुपट्टा दोनों कंधों पर पहना जाता था, और उसके दोनों छोर कलैारिओं में से निकालकर बड़ी नजाकत से कुहनियों के ऊपर छोड़े जाते थे। ऐसा प्राय: पूजन के समय किया जाता था। दुपट्टा पहनने का दूसरा प्रकार वह था जिसमें एक छोर नीचे को लटकता था, और दूसरा पीछे की ओर डाल दिया जाता था। तीसरे ढंग में दोनों छोर पीछे की ओर फेंक दिए जाते थे। चौथा प्रकार वह था जिसमें दुपट्टा काँख में से न ले जाकर वक्षःस्थल पर लटकाया जाता था। इसके पहनने के कुछ ढंग ऐसे थे जिनमें दुपट्टा शरीर के चारों ओर फिराकर उसका छोर बाएँ कंधे पर डाल दिया जाता था।

पुरुषों द्वारा पहनी जानेवाली पगड़ी (उष्णीष, वेष्टनी) दो प्रकार की होती थीं। हल्की पगड़ी में बाल सिर के ऊपर गाँठ में इकट्ठे कर लिए जाते थे, और पगड़ी की दोनों पट्टियाँ माथे के ठीक ऊपर एक दूसरे को पार करती थीं, और वे उस गाँठ को भी ढक लेती थीं, जिस पर पगड़ी के दोनों छोर बँधे रहते थे। इस हलकी पगड़ी में बालों का बहुत सा भाग खुला रह जाता था। भारी पगड़ी में पूरा सिर ढक जाता था।

कंचुक या कुर्ता स्त्री पुरुष दोनों धारण करते थे। भारहुत में इसके दो स्थानों पर चित्रण मिलते हैं। यहाँ के द्वार-स्तंभ पर बनी हुई मूर्ति (*जिसे डा० बरुआ ने राजा धनभूति की मूर्ति कहा है, भारहुत २, फलक २२*) बोधि-वृक्ष का पूजन करती हुई अंकित है। पास ही एक सेवक की मूर्ति है, जो पूरे आस्तीन की जाकट पहने है, बगल में उसके छोर गोल कटे हुए हैं। कालर, आस्तीन, कफ और खुले हुए छोर फीते जैसी वस्तु से सँवारे हैं। वह धोती और पगड़ी भी पहने है।

भारहुत की दूसरी मूर्ति (बरुआ के अनुसार सूर्य, भाग २, फलक ४२) भी पूरी आस्तीन का कुर्ता पहने हुए है जो लगभग बीच जांघ तक पहुँचता है। जाँघों पर के खुले हुए किनारे काट में टेढ़े हैं। यह दो स्थानों पर डोरों से बँधा है, एक गले पर और दूसरा पेट के चारों ओर। उसका सिर खुला है; सिर के पीछे की ओर बाल एक चौड़े फीते से बँधे हैं। कटि प्रांत और जाँघों के ऊपर धोती है जिससे पटका लटक रहा है। वह लंबे बूट भी पहने है। बाईं टाँग

में एक पट्टा लटकता है, जिसमें एक कटार बँधी है। वास्तव में यह मूर्ति उत्तर पश्चिमी सीमांत के सिपाही के तत्कालीन पहनावे का अच्छा उदाहरण है। इसके सीधे हाथ में अंगूर का गुच्छा है।

कोट या कुर्ते का पहनना इस काल में बहुत प्रचलित था, जैसा कि शुंग काल की प्राप्त अनेक मूर्तियों से विदित होता है। भीटा से मिली एक पुरुष मूर्ति आजकल के चोगे की तरह आस्तीनदार कोट पहने हुए है। वह खुला हुआ है, पर सीने पर गाँठ देने के लिये उसमें घुंडियाँ लगी हुई हैं[१]।

कुर्ते भी प्रायः पहने जाते थे, जो कमरबंद से कमर के ऊपर कसे रहते थे। साँची, भाजा आदि स्थानों से आधी आस्तीन और पूरी आस्तीनवाले कुर्ते पहने हुए मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

भारहुत में प्राप्त मूर्तियों में सभी वर्गों की स्त्रियाँ ठीक उसी प्रकार साड़ी या धोती पहने हुए हैं, जैसे इस काल की पुरुषमूर्तियाँ पहने हैं साड़ी घुटनों के कुछ ही नीचे पहुँचती है। उसका बाहरी किनारा लगातार बराबर के परतों में इकट्ठा समेटा हुआ है। एक सुंदर मेखला और कमरबंद से साड़ी कमर में बँधी है। कमरबंद कभी-कभी बेलबूटेदार होते थे। पैरों के बीच में लटकता हुआ पटका, जो प्रायः बड़ी सुंदरता से आभूषित रहता था, कमरबंद से लटकता हुआ होता था।

भारहुत की अधिकांश स्त्री-मूर्तियों के कमर से ऊपर के भाग प्रायः आच्छादन रहित हैं। दाहिने स्तन के समीप हलकी तंजेब पहने हुए यक्षिणी चंदा आदि के कुछ उदाहरण इसके अपवाद हैं।

भारहुत से मिली सभी स्त्री-मूर्तियों के सिर सुंदर वस्त्रों से आच्छादित हैं। यक्षिणी चंदा और देवता चूलकोका के सिराच्छादन बड़े ही आकर्षक हैं। कुछ स्त्रियाँ दुपट्टे पहने भी अंकित हैं, और कोई-कोई पगड़ी भी धारण किए हैं[२]।

साँची स्तूप में और कार्ला गुफाओं की उत्कीर्ण मूर्तियों और चित्रों में ई० पूर्व प्रथम शताब्दी की भारतीय वेष-भूषा के बड़े सुंदर दृष्टांत वर्तमान हैं।

---

१ आर्कलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट १९११-१२ पृ० ७४.

२ बरुआ—भारहुत, ऐस्पेक्ट्स ऑफ लाइफ एंड आर्ट भाग २, फलक १९, चित्र ३४.

पुरुषों का प्रधान परिधान धोती था, जो घुटनों तक पहुँचती थी। उसका एक सिरा पीछे की ओर खोंस दिया जाता था, और दूसरा चुनियाकर आगे बाँध लिया जाता था। या कभी एक छोर कमर के चारों ओर कस लिया जाता था और दूसरा बाईं कुहनी के ऊपर ले जाकर नीचे को छोड़ दिया जाता था। परंतु ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। कमरबंद के द्वारा तितलीनुमा गाँठ में धोती कमर पर बँधी रहती थी। कार्ला में कटिवस्त्र कुछ छोटा मिलता है और कमरबंद लिपटे हुए दुपट्टे की तरह बगल में बँधा हुआ है[1]। पुरुषों का ऊर्ध्व अंग प्राय: खुला ही रहता था, पर कहीं कहीं उत्तरीय का व्यवहार पाया जाता है, जो अनेक ढंग से कंधों में लपेटा जाता था। भारहुत की अपेक्षा कार्ला में दुपट्टे का प्रयोग कम है। परंतु सब पुरुष-मूर्तियाँ साफा या पगड़ी पहने हैं, जो गूथे हुए बालों में विभिन्न प्रकार से लपेटकर बड़े ही आकर्षक ढंगों से लपेटी हुई है। शंखाकृति पगड़ी पहने हुए मूर्तियाँ मिली हैं। पगड़ी के सिरों की गाँठें गोल, चौकोर, पंखे जैसी आदि विभिन्न प्रकार की हैं। टोपियाँ पहने हुए भी मूर्तियाँ मिली हैं[2]। स्तूप-पूजन करते समय ऊँची खोदे के आकार की टोपियाँ पहने हुए विदेशियों की मूर्तियाँ हैं। एक ऐसी भी टोपी का चित्र है, जो सिर पर जमकर बैठी हुई है, और जिस पर सामने की ओर गाँठ है। अन्य अनेक प्रकार की आभूषित मनोहर टोपियों के भी चित्र मिले हैं।

अजंता में ऐसी सज्जित पगड़ियाँ नहीं मिलतीं। सिर के ऊपर बाल एक गाँठ में बँधे हैं, और उस के चारों ओर एक पतला फीता, जिसके सिरे फाँकदार हैं, बँधा है। यह पगड़ी १६ वीं और १७ वीं शताब्दी की अटपटी पगड़ी से बहुत मिलती-जुलती है[3]। साँची में रथ चलानेवाला शिरस्त्राण जैसी

---

१ बर्जेस—रिपोर्ट ऑन दि बुधिस्ट केव टेम्पल्स, फलक १३.

२ फरगुसन—ट्री एंड सर्पेंट वर्शिप, फलक ३८, चित्र १.

३ स्टेला क्रैमरिश—ए सर्वे ऑफ पेंटिंग इन दि डेकन, फलक १.

टोपी पहने है, जिसमें एक पर खोंसा हुआ है। कुछ विदेशी अपने ललाट पर फीते बाँधे हुए हैं[१]।

स्त्रियाँ दो प्रकार के अधोवस्त्र पहने हैं। एक लँगोटी के ढंग का है, जिसमें पट्ट का एक सिरा सामने मेखला से बँधा हुआ है और दूसरा पीछे खोंसा हुआ है। दूसरी प्रकार का वह है जिसमें कटि वस्त्र का एक छोर जो घुटनों तक पहुँचता है, कमर के चारों ओर लपेटा है; दूसरा छोर पलेटदार है, जो सामने खोंसा हुआ है, और फिर पीछे की ओर बाँध दिया गया है। एक दूसरी मूर्ति में कमर के चारों ओर कपड़ा लपेटा है; और पलेटदार छोर बगल में बँधा है। कभी-कभी कमरबंद भी पहना जाता था।

स्त्रियाँ अपने सिरों को प्राय: सुंदर किनारियों से सज्जित ओढ़नियों से ढकती थीं। ओढ़नी सिर को ढककर पीछे की ओर लटकाई रहती थी। कोई ओढ़नी डोरियों के द्वारा बँधी भी रहती थी। ओढ़नी का ऊपरी सिरा कभी-कभी पंखे के ढंग पर सजा रहता था। स्त्रियाँ पगड़ी और सँकरी टोपियाँ भी पहनती थीं, जो अनेक प्रकार से आभूषित रहती थीं। एक जुलूस में मुकुट-जैसी वस्तु पहने हुए एक महिला का चित्र है। हो सकता है कि वह राजा की शरीर-रक्षिका यवनी है।

ब्राह्मण साधुओं की मूर्तियाँ साधारण कटिवस्त्र के स्थान में कमर की काछनी पहने हुए अंकित हैं। यह काछनी सिली हुई जान पड़ती है, और कमर में एक डोरी से कसी है। वे एक उत्तरीय वस्त्र भी पहने हैं, जो बायाँ कंधा और सीना ढके हुए है; पर दायाँ कंधा खुला है। पटियादार बाल सिर के ऊपर एक शंखाकार घुमाव से सजाए गए हैं[२]। स्त्रियाँ भी जाँघिए की तरह का वस्त्र पहने हैं, जो घुटनों तक पहुँचता है। उत्तरीय वस्त्र भी पुरुषों के ही ढंग का है, केवल अंतर इतना है कि इससे स्त्रियों की बाईं कुहनी के कुछ ऊपर भुजा का भाग भी ढका रहता है[३]।

---

१ फर्गुसन—ट्री एंड सर्पेंट वरशिप, फलक ३३.

२ वही ३४, चित्र १.

३ वही ३२.

साँची की मूर्तियों में सिले हुए अनेक वस्त्र देखने को मिलते हैं। रथवाह, सिपाही, राजाओं के अंग-रक्षक, पताका-वाहक और स्तूप की पूजा करते हुए विदेशी लोग सिले हुए पूरी आस्तीन के कुर्त्ते, जाँघिये आदि वस्त्र पहने हैं। तीर आदि चलाते हुए सिपाही और शिकारी अपनी आस्तीनों को कुहनियों तक समेटे रहते थे। स्तूप का पूजन करते हुए विदेशी पूरी आस्तीन का कुर्ता जाँघिया और कमरबंद पहने हैं। उनका उत्तरीय या दुपट्टा पीठ पर लहराता है, और सामने गर्दन पर गाँठ से बँधा है। वे पूरे बूट भी पहने हैं। सिर पर कुछ तो पतली पट्टी सी बाँधे हैं, कुछ जमकर बैठनेवाली टोपियाँ पहने हैं, और कुछ नंगे सिर हैं।

जूते साँची की मूर्तियों में केवल एक स्थान पर मिलते हैं। ये विदेशी लोगों की मूर्तियों में पहनाए गए हैं। परंतु इससे यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि इस काल में भारतीय जूतों का व्यवहार नहीं करते थे। तत्कालीन साहित्य में अनेक उल्लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय अनेक प्रकार के जूते पहनते थे, जो विभिन्न वस्तुओं के बने होते थे। भारहुत, साँची आदि की स्त्री-पुरुष-मूर्तियाँ पूजन आदि धार्मिक कृत्य करती हुई अंकित हैं, अतः उनका ऐसे अवसरों पर जूता न पहनना युक्तिसंगत ही है।[१]

§ ५—ई० सन् की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ श० के प्रारंभ तक[२]

ई० सन् की प्रथम तीन शताब्दियों में भारतीय जीवन और सभ्यता अपने विविध क्षेत्रों में विकसित और उन्नत हुई। भारतवासी गंगा के प्रदेशों के बाहर और विदेशों में मध्य एशिया तक फैल गए थे। इस काल में रोम साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार बहुत बढ़ा। यहाँ के हीरे जवाहरात, सुगंधित द्रव्य, अनेक भाँति के पुष्पपात्र, बारीक मलमल आदि रोम को जाते थे, जिनके बदले में अपार धनराशि भारत को आती थी।

---

१ भारतीय विद्या, बम्बई, भाग १, अंक १, १९३९, पृ० २८-५३, भारतीय पहनावा शीर्षक सचित्र अँगरेज़ी लेख।

२ इंडिया सोसाइटी ओरियंटल आर्ट की पत्रिका में लेखक का दूसरा लेख, इसी विषय पर, १९४०, पृ० १८५-२२४।

इस काल में भारतीय वेषभूषा के इतिहास के लिये उत्तर में गंधार और मथुरा की कला में तथा दक्षिण के अमरावती, नागार्जुनीकोंडा आदि के स्तूपों में काफी सामग्री है। पुरुषों का प्रधान पहनावा धोती, दुपट्टा और पगड़ी तथा स्त्रियों का साड़ी और ओढ़नी का परिधान इस काल में भी प्रचलित रहा; परंतु सिले हुए कपड़े भी, जैसे जाँघिए, पायजामे और पूरे बूट, कवच, टोपियाँ आदि जो संभवत: मध्य एशिया और ईरानी वेषभूषा के अनुकरण थे, इस काल में व्यवहृत होने लगे।

तत्कालीन साहित्य में यद्यपि वेष-भूषा के विषय में यथेष्ट वर्णन नहीं मिलते, तो भी वस्त्र-निर्माण की वस्तुओं को जानने के लिये हमें साहित्यिक ग्रंथों पर विशेष रूप से निर्भर रहना है।

सूती वस्त्र का बहुत अधिक व्यवहार होता था। कपास के विस्तृत क्षेत्र (कर्पास वाट) थे, जिनमें बारीक मुलायम कपास होती थी[१]। जुलाहे (कुविंद) और उनकी स्त्रियाँ रुई कातते-बुनते थे। दक्षिण में नाग-जाति के लोग, विशेषत: कलिंग के, बहुत बढ़िया तनजेब तैयार करते थे, जो रोम, अरब, मिस्र आदि विदेशों को भेजा जाता था[२]।

रेशम की भी बहुत माँग थी। सफेद सादी रेशम (पट्टांशुक), चीन की रेशम (चीन), शहतूत के कीड़ोंवाली कौशेय रेशम और धुली हुई रेशम (धौतपट्ट) का व्यवहार किया जाता था। गुजरात की 'पटोला' नामक रंग-बिरंगी रेशमी साड़ी 'विचित्रपटोलक' कहलाती थी। दक्षिण भारत की स्त्रियाँ लाल रंग वाली रेशम के वस्त्र पहनती थीं[३]।

बढ़िया ऊनी कपड़ा 'दूश्य' (हिंदी घुस्सा) कहलाता था, जिसकी अनेक किस्में मालूम थीं। ऊन और 'दुकूल' के मिले हुए तागे बुने जाते थे[४]। काश्मीर

---

१ दिव्यावदान, पृ० २१२, २१४, २२१, ३८८ आदि

२ कनकसभाइ— तामिल्स एटीन हंड्रेड इअर्स एगो, पृ० ४५. वार्मिंगटन— कामर्स बिटवीन दि रोमन अम्पायर ऐंड इंडिया, पृ० २१२.

३ दिव्यावदान, पृ० ३१६; ललितविस्तर, पृ० ११३ (राजेंद्रलाल मित्र का संस्करण, कलकत्ता, १८७७) सिलप्पदिकारं, भाग १४, पृ० २०३.

४ दिव्यावदान, पृ० ३१६; २१५; ६१४; २११.

के बने हुए सुंदर ऊन के शाल तो सबके आकर्षण और प्रशंसा के पात्र बन गए थे।

पटसन (क्षौम), सन और अन्य अनेक रेशेदार वृक्षों के रेशों से बने हुए कपड़े भी बहुत व्यवहार में लाए जाते थे[१]।

सुनहले बूटेदार कपड़े ('हर्यणी, हिरिवस्त्र'), दुकूल के धागों से बुने हुए वस्त्र ('पांडुदुकूल'), बनारसी रेशमी और सूती कपड़े(काशिक वस्त्र), सिंध गुजरात, और कोंकन के 'अपरांतक' नामक वस्त्र, छपी हुई छींट के कपड़े ('फुट्टक') और छपे हुए या बेलें काढ़े हुए वस्त्र (पुष्पपट्ट) भी भली भाँति ज्ञात थे और प्रयोग में लाए जाते थे[२]। सोपारा के बंदरगाह में बनारसी रेशम की एक दुकान (काशिकवस्त्रावारी) का उल्लेख दिव्यावदान में पाया जाता है (पृ० ३१६)।

साधु-संन्यासी फलों की जटाओं से बने हुए तथा मूँज, पेड़ों की छाल (वल्कल) और मनुष्यों या जानवरों के बालों से बने हुए कपड़ों का व्यवहार करते थे[३]।

समूर आदि जानवरों के रोंवों का भी उपयोग वस्त्रों के निर्माण के लिये किया जाता था[४]।

वस्त्रों का सुंदर रंगों में रँगना (वस्त्र-राग) और सीना भी कलाएँ थीं।

इस काल में भारतीयों के प्रधान आवश्यक परिधान धोती और दुपट्टा थे। राजा लोग धोती, दुपट्टा, पगड़ी और कभी-कभी कुरता-जैसा वस्त्र धारण करते थे। किसान, जुलाहे आदि पटसन के बने कटिवस्त्र (लुंगी) पहनते थे। राजा, मंत्री, राज्य के उच्च अधिकारी सेठ लोग, पुरोहित आदि साफे या पगड़ियाँ बाँधते थे। प्रतिहारी लोग ('कंचुकी') भूरे रंग के कुर्ते और कवच पहनते थे[५]।

---

१ दिव्यावदान, पृ० ३१६।

२ दिव्यावदान, पृ०३१६; ललितविस्तर पृ० १५८,३३३,१४१,३६८ आदि

३ ललितविस्तर, पृ० ३१२; वार्मिंग्टन, पृ० १५७.

४ स्लॉफ—वही, पृ० १७२,१५८, अर्थशास्त्र—शाम शास्त्री का अनु० पृ० ८१.

५ दिव्या०—पृ० २१; २६; २७६; २५६ आदि; ललित०, पृ० ४७; नाट्यशास्त्र अ० २३.

तामिल साहित्य में अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि राजा लोग एक कटिवस्त्र, ऊँचा करंडाकार जड़ाऊ स्वर्ण-मुकुट और केयूर, हार आदि आभूषण धारण करते थे[१]। तामिल के मनुष्यों के परिधान उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे। मध्य वर्ग के लोग कटिवस्त्र और पगड़ी पहनते थे। राजमहल के रक्षक भारतीय और यवन सिपाही कोट और कुर्ते पहनते थे। ऊँची स्थिति के पुरुष रेशम की रंगीन डोरियों से जिनमें चमकते हुए नीले मनके पिरोए रहते थे, अपने बाल बाँधते थे। नाग जाति के लोग सिर में पंख खोंसते थे[२]।

तामिल-स्त्रियाँ साड़ियाँ पहनती थीं, जो टखनों तक पहुँचती थीं। कमर तक का सारा अंग खुला रहता था जिस पर चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों का लेप रहता था। दरबार की वेश्याएँ बारीक तनजेब का छोटा कटिवस्त्र पहनती थीं, जो जाँघों के आधे भाग तक पहुँचता था। पहाड़ी जातियों की स्त्रियाँ हरे पत्तों के द्वारा अपने कटि-प्रदेश को ढकती थीं[३]।

उत्तर-पश्चिमी भारत की गंधार-कला में पुरुष प्रायः धोती, दुपट्टा और साफा पहने पाए जाते हैं। इन मूर्तियों में कुर्ता, पायजामा और टोपी का भी व्यवहार है, जो अफग़ानी और पंजाबी लोगों की साधारण पोशाक थी[४]।

गंधार-कला में राजपुत्र और रईस एक लंबी चुन्नटदार धोती और चादर पहने हुए मिले हैं। चादर परतदार और मुरेंड़दार आदि अनेक ढंगों से प्रायः कंधों के ऊपर से पीठ की ओर लटकती हुई पहनी गई है। पट्टी या फीते का बना हुआ कमरबंद भी कमर के चारों ओर बँधा रहता है[५]।

---

१ कनकसभाइ, वही, पृ० ११०.

२ 'पुरणानुरु' कनकसभाइ द्वारा उद्धृत, पृ० ११७.

३ कनकसभाइ की पुस्तक, पृ० ११७.

४ फाउचर, गंधार की ग्रीक-बौद्ध कला (फ्रेंच में) भाग २, चित्र ३६१,४१७, ३६२,४१५-१६.

५ वही।

बाल कभी कभी खुले रहते हैं, और सिर पर एक गोल गाँठ में बँधे रहते हैं, जो मोतियों और रत्नों से सज्जित रहती है। परंतु प्राय: गाँठ के ऊपर पगड़ी पहनी जाती थी। आज कल के हैट की तरह पगड़ी सारे सिर पर जमकर बैठ जाती थी। वह बहुत हलके कपड़े की बनी होती थी, और उसके एक छोर के परत पंखे के ढंग से सजाए रहते थे। ऐसी पगड़ी का व्यवहार अब भी पंजाबी और अफगानी करते हैं। पगड़ी की लपेटों के बंधन प्राय: देवों, पशुओं या पक्षियों के चित्रों से अलंकृत रहते थे[1]।

गंधार कला में दान देनेवालों, व्यापारियों और गृहपतियों का पहनावा धोती और उत्तरीय या चादर अंकित है। जाड़ों में लोग लंबे कुर्ते भी पहनते थे। कुछ पुरुष मूर्तियाँ सँकरे आस्तीन के कोट और शलवार भी पहने हुए हैं, ये सँकरे पायजामे होते थे जो इत्सिंग के कथनानुसार ईरान, तिब्बत, काशगर और सारे तुर्किस्तान में पहने जाते थे[2]।

असभ्य जातियों के सिपाही कमरबंद से कसा हुआ कटि-वस्त्र (लुंगी) पहनते थे और सीने पर एक मुरेड़दार कपड़ा। बाकी अंग और बाल खुले रहते थे। कभी-कभी पगड़ी पहनने के उदाहरण मिलते हैं।

अन्य सैनिक मुकुट (शीर्ष-कटाह) और कवच पहनते थे। कवच असीरियन ढंग का आधी आस्तीन का होता था और घुटनों तक पहुँचता था। वह कई प्रकार से पहना जाता था। कुछ सैनिक जाँघिया पहनते थे। राजाओं और रईसों के द्वारा भी मौक़ा पड़ने पर जाँघिया पहना जाता था[3]।

शिकारी कटिवस्त्र या लुंगी पहनते थे। किसान और मजदूर कमर पर छोटे कपड़े और लँगोटा पहनते थे, जिसका व्यवहार पहलवान भी करते थे, शाक्यों के द्वारा जाँघियों का व्यवहार अखाड़ों आदि में होता था। ब्राह्मण और ब्रह्मचारी लुंगी और चादर पहनते थे। उनके बाल गर्दन पर बिखरे रहते थे। विदेशी लोग टोपियों का उपयोग करते थे। टोपियाँ प्राय: ऊपर को

---

१ फूशे, गंधार की ग्रीक बौद्ध कला (फ्रेंच में) भाग २, पृ० १८६, चित्र ३६२-३६७, ४७७ आदि; भाग १, पृ० १८१ आदि.

२ वही, चित्र ३४५ ५३, ४४० आदि.

३ वही, भाग १, पृ० ४०२, चित्र २०२-२०४.

उठी हुई तिकोनी होती थीं। उनमें कभी-कभी सिरे पर गाँठ भी लगी रहती थी। कुछ टोपियाँ मोतियों से जटित या चंद्रलेखा से अलंकृत भी होती थीं[१]।

गंधार-कला में स्त्रियों के परिधान में तीन वस्त्र हैं, एक आस्तीनदार कुर्ती, एक छोटा घाँघरा जैसा वस्त्र और एक शाल। कुर्ती या कमीज प्रायः घुटनों तक पहुँचती है; कभी-कभी वह सामने की ओर खुली रहती है। यह पूरी आस्तीन की कोट जैसी कमीज कमर के कुछ नीचे पहुँचती है, पर नाभि खुली रहती है।

साड़ी दो प्रकार से पहनी गई है; पहले प्रकार में उसका एक भाग कमर के चारों ओर लिपटा है, दूसरा भाग पलेटदार है और पीछे की तरफ खोंसा हुआ है। साड़ी पहनने का दूसरा ढंग वह है जिसमें एक भाग तो पहले की तरह कमर में लपेटा है और दूसरा छुट्टा है जो बायें कंधे पर पड़ा हुआ है[२]। साड़ी पहनने के अन्य अनेक ढंग थे। दुपट्टा या चादर साधारणतः कंधों के ऊपर डाला गया है। स्त्रियों के बाल प्रायः हारों से गुँथे मिलते हैं, पर कभी-कभी बालों के ऊपर किरीट या मुकुट भी सजे हुए मिलते हैं[३]।

राजाओं की परिचर्या में रहनेवाली विदेशी महिलाएँ[४] या तो प्राचीन यूनानी वेष-भूषा रखती थीं और कुर्ते तथा पलेटदार किनारेवाले दुपट्टे का व्यवहार करती थीं, या भारतीय स्त्रियों की तरह ही साड़ी और चादर धारण करती थीं। साड़ी और चादर के साथ वे कमरबंद का भी व्यवहार करती थीं[५]।

इस काल में मध्यदेश के लोगों की वेष-भूषा मथुरा की मूर्तिकला से स्पष्ट होती है[६]। भारतीयों की पोशाक साधारणतः धोती और दुपट्टा मिलती है। धोती का एक सिरा पीछे लपेटा गया है, और दूसरा बड़ा हिस्सा मोड़कर

---

१ वही, चित्र १३८।१८७ आदि; भाग १, चित्र ३०३,४३१, ३५४, आर्के० स० रि०, १९११-१२, फलक ४०, चित्र १०; १९१०-११, फलक २२.

२ आर्के० स० रि०, १९१९-२०, फलक ९; १९२५-२६, फलक ४६, फाउचर भाग १, चित्र १३९-४०, २४४-४५ आदि.

३ आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९१९-२०, फलक ६, चित्र १-२.

४ मेगास्थनीज और स्ट्रैबो आदि के वर्णन; अर्थशास्त्र १।२१।

५ फाउचर, वही, भाग २, चित्र ३४२-३४३.

६ देखिए—वोगल-कृत ला स्कल्चर द मथुरा, फलक ७, ८, ११, ३५ आदि।

प्राय: बाईं तरफ खोंसा हुआ है। ऊँची सामाजिक स्थितिवाले लोग कमरबंद कसते थे। दुपट्टा दोनों कंधों के ऊपर से कुहनियों के बीच से होकर नीचे लहराता था। रईस लोग बाएँ कंधे से पीठ की ओर से घुटनों तक आता हुआ दुपट्टा पहनते थे। तीसरा वस्त्र पटका था जो बड़े आभूषित ढंग का होता था और नाभि के पास धोती में खोंसा रहता था। घुड़सवार, सईस आदि लुंगी पहनते थे जो कमरबंद के द्वारा कसी रहती थी।

पुरुषों के द्वारा पगड़ी (उष्णीष) का व्यवहार प्राय: मिलता है। ये साधारण कपड़ों की और बहुमूल्य पदार्थों की भी बनती थीं, जिनके ऊपर धातुओं के अनेक प्रकार के वृत्ताकार किरीट सुसज्जित रहते थे[१]। पगड़ियों के ऊपर रंग-बिरंगे पंख भी खोंसे जाते थे[२]।

मथुरा की कला में शक शासक और सिपाही प्राय: लंबा कुर्ता, पायजामा, टोपी और ऊँचे बूट पहने हुए मिलते हैं। कुर्ते अनेक प्रकार के पाए जाते हैं, जो प्राय: बेल बूटेदार हैं। ईरानियों की भी वेष-भूषा शकों से मिलती-जुलती थी[३]।

विदेशियों की टोपियाँ प्राय: उठी हुई तिकोनी मिलती हैं। कुछ टोपियाँ शंखाकार और कुछ सामने या पीछे की ओर झुकी हुई ऊँची टोपियाँ जो आजकल की तुर्की टोपियों से मिलती हैं प्रचलित थीं। इनमें से किसी किसी में चंद्राकार या अन्य प्रकार के चिह्न मिलते हैं। कुछ टोपियाँ आजकल की अर्धगोल पगड़ियों जैसी भी होती थीं।[४]

मथुरा-कला की मूर्तियों में स्त्रियाँ प्राय: टखनों तक लटकती हुई साड़ियाँ पहने हैं, जो सुसज्जित मेखलाओं द्वारा कमर में कसी हैं। वे दुपट्टा

---

१ स्मिथ, जैन स्तूप ऑफ मथुरा, फलक १६, चित्र २.

२ अग्रवाल, मथुरा की मूर्तिकला (अँगरेजी), फलक १६; चित्र ३३.

३ आर्क० स० रि०, १६११-१२, फलक ५५, चित्र ७-८. वोगल फलक ३३ ब; अग्रवाल-कृत मथुरा संग्रहालय की हैंड बुक, फलक २१, चित्र ४१.

४ वोगल—वही, फलक ४, १३, ३३ आदि; अग्रवाल—वही, फलक १३, चित्र २६.

भी धारण किए हैं जो दोनों कंधों को ढकता हुआ नीचे लटकता है। बहुत सी मूर्तियों में दुपट्टा नहीं मिलता। कमरबंद अनेक प्रकार के सुंदर ढंगों से बँधे हुए मिलते हैं। पटके भी अनेक तरीकों से पहने जाते थे[१]।

घाघर या साया जो आजकल संयुक्त प्रांत, मध्यप्रांत, गुजरात और मारवाड़ आदि में बहुत पहना जाता है, कुषाण-काल में भी था, परंतु यह बहुत कम पहना जाता था। शायद ग्वालिनें और ऐसे ही अन्य स्त्रियाँ इसे पहनती थीं। लखनऊ के प्रांतीय संग्रहालय में साया पहने हुए एक स्त्री की मूर्ति है (सं० बी ८६)।

मथुरा-कला में प्रायः स्त्रियाँ कुर्ती पहने नहीं मिलतीं। परंतु विदेशी महिलाएँ कुर्ती और साड़ी पहने हैं। साड़ी का एक हिस्सा कमर के चारों ओर लपेटा है; दूसरा बाएँ कंधे के ऊपर है जो बाईं ओर के वक्षःस्थल को ढकता है। साड़ी पहनने का यह ढंग गंधार और उत्तर-पश्चिमी सीमांत में विशेष प्रचलित था। शक और ईरानी स्त्रियाँ बूटेदार कुर्ते पहने मिली हैं। पुष्पपट्ट का बना हुआ सुंदर सुसज्जित कुर्ता पहने भी मथुरा प्रांत से एक स्त्री-मूर्ति मिली है[२] (सं० बी ८४)।

मथुरा-कला में स्त्रियाँ साधारणतः खुले सिर मिली हैं। परंतु कभी कभी घूँघट जैसा वस्त्र और पगड़ियाँ पहनी हुई मिलती हैं। पगड़ियाँ दो प्रकार की मिली हैं, जिनका पहनना केवल अपवाद स्वरूप ही है[३]।

अमरावती, नागार्जुनीकोंडा आदि के स्तूपों में पुरुष-मूर्तियाँ छोटी धोती या लुंगी पहने हुए मिलती हैं, जो टखनों के ऊपर तक पहुँचती है, और अनेक ढंग से बँधी रहती है। एक पलेटदार सिरा सामने बँधा है, और दूसरा पीछे खोंसा हुआ है। कभी कभी धोती घुटनों तक ही है।

---

१ वोगल, ला स्कल्चर डे मथुरा, फलक ७, १६-१८।

२ वही, ६०, ब।

३ स्मिथ, जैन स्तूप आफ मथुरा, फलक २४-२५.; वोगल, फलक १७ अ.

कमरबंद अनेक प्रकार के कलात्मक ढंगों से पहिना हुआ पाया जाता है। दुपट्टा साधारणत: नहीं मिलता, पर कहीं कहीं वक्षःस्थल तथा बाएँ कंधे पर पड़ी चादर या दुपट्टा पाया जाता है[१]।

बालों की सजावट और सिराच्छादन अनेक ढंग के मिलते हैं। बाल अनेक प्रकार के आभूषणों से गुथे हुए रहते थे और उनमें पगड़ी शृंगारपूर्ण ढंगों से पहनी जाती थी।

किरीट-जटित पगड़ी, ढीली पगड़ी और टोपियों का भी व्यवहार यहाँ की मूर्तियोंमें पाया जाता है। पगड़ी अनेक प्रकार से बाँधी जाती थी, उसी प्रकार टोपियाँ भी। खड़ी तिकोनी टोपियाँ, गोल सँकरी टोपियाँ और कंटोप पहने हुए मूर्तियाँ मिलती हैं[२]।

कुर्ते का व्यवहार राजा-रईसों की मूर्तियों में नहीं पाया जाता। परंतु विदेशियों, पालकी ले जानेवाले कहारों, गायकों आदि के द्वारा पहने हुए कुर्ते के दृश्य बहुत मिलते हैं। वह कमर तक पहुँचता है। कुर्ते के साथ कंटोप धोती भी पहने जाते थे, या पगड़ी, दुपट्टा और धोती पहने जाते थे। कहार, ग्वाले आदि जाँघिये और कमरबंद का भी व्यवहार करते थे[३]।

इस काल में दक्षिण भारत की स्त्रियाँ प्राय: टखनों के ऊपर तक छोटी साड़ियाँ पहनती थीं जो कमर पर मेखलाओं से बँधी रहती थीं। कमर के ऊपर का भाग प्राय: खुला रहता था। मेखला से खोंसा हुआ पटका नीचे लटका करता था। कभी-कभी मेखला के स्थान में कमरबंद भी मिलता है[४]।

केश-विन्यास और केश-संस्कार के अनेक प्रकार दाक्षिणात्य स्त्रियों में प्रचलित थे। मूर्तियों में किरीट, जड़ाऊ मुकुट आदि भी पहने हुए मिलते हैं। कभी-कभी सुसज्जित पगड़ियाँ बाँधे हुए भी स्त्रियों की मूर्तियाँ

---

१ फर्गुसन, ट्री एंड सर्पेंट वरशिप, फलक ६५, चित्र ३;६१,३;७४ आदि. लांगहर्स्ट दि बुधिस्ट ऐंटिक्विटीज फ्राम नागार्जुनीकोंड, फलक २२ अ आदि.

२ फर्गुसन, वही, फलक ७४,८४; लांगहर्स्ट, फलक २१ ब, २३ ब.

३ फर्गुसन, वही, फलक ८३, चित्र १-२; ८४; ५७।

४ फर्गुसन वही फलक, ८५; ९१, चित्र ३.

मिलती हैं। केश-पाश (जूड़े) के चारों ओर बड़े शृंगार-पूर्ण ढंगों से ये पगड़ियाँ लपेटी जाती थीं। इनमें से कुछ दृश्य आजकल के मध्यप्रांत की बनजारों की औरतों के जूड़ों से बहुत मिलते-जुलते हैं। अनेक प्रकार के आभूषित किरीट और जड़ाऊ मुकुट भी इस काल की स्त्रियों द्वारा धारण किए हुए मिलते हैं। बालों के ऊपर घूँघट जैसा कपड़ा बहुत ही कम मिलता है[१]।

छोटे लड़के जाँघिया और सुसज्जित पगड़ियाँ पहने हुए मिलते हैं। कभी कभी सीने के चारों ओर एक छोटा दुपट्टा भी बँधा हुआ मिलता है[२]।

§ ६—गुप्तकालीन भारतीय पहरावा

भारतीय संस्कृति के इतिहास में गुप्त काल स्वर्णयुग माना गया है। राजनैतिक क्षेत्र में कुषाण-साम्राज्य के पतन के बाद जो अराजकता फैली थी उसका उन्मूलन करके गुप्तों ने अपने राज्य की दृढ़ नींव डाली। गुप्त राजाओं ने अपने सामने सर्वदा भारतीय आदर्श रखा जिसके फल-स्वरूप साहित्य, कला तथा वास्तु शास्त्र में एक नवीन रस-धारा बही जिसके प्रतीक कवि-सम्राट् कालिदास हुए जिन्होंने अपनी अमर वाणी से भारतीय इतिहास के इस महान् युग को अमरत्व प्रदान कर दिया। इसी काल में अजंता की उस अमर कला की संवर्धना तथा परिपुष्टि हुई जिसने कला के अमिट सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए आधे से ऊपर एशिया में भारतीय कला की विजय-पताका फहरा दी। इस कला में भाव तथा लावण्य योजन का अपूर्व सम्मिश्रण देख-कर दर्शक चकित सा रह जाता है तथा उसका हृदय रसास्वादन से परिप्लावित हो जाता है। अजंता की कला का सृजन केवल रसास्वादन के लिये ही नहीं हुआ था। अजंता के चित्रों ने हमें उस भारतीय सभ्यता का मूर्त रूप में दर्शन कराया है जिसकी झलक हम कालिदास और बाणभट्ट में पाकर आनंद से पुलकित हो उठते हैं। इस कला में भारतीय जीवन के अनेक पहलुओं पर दृष्टि डाली गई है। राग-रंग में मस्त गुप्तकालीन पुरुष तथा स्त्रियाँ, सजे हुए

---

१ लांगहर्स्ट, फलक २० ब; ३४ अ; फर्गुसन, फ० ८५; ८४,३;७४२,१.

२ वही, फलक ६ स, द.

राज्यप्रासाद, चटकीले नकशोंवाले कपड़े, चुस्त अश्वारोही, विनीत दास-दासियाँ, अपने देश के अनुरूप कपड़े पहने हुए विदेशी पुरुष—ये सब भारतीय सभ्यता के उस महान् युग के प्रतीक स्वरूप हैं जिसने इतिहास में अपना सिक्का सर्वदा के लिये जमा लिया है।

भारतीय संस्कृति में आरंभिक काल से ही धर्म का एक विशेष स्थान रहा है। इसी की धुरी का आश्रय लेकर भारतीय सभ्यता का चक्र अवांतर घूमता रहा है। गुप्त काल में यह धर्म सर्व प्राणियों के हित का साधन बना। उच्च विचार-धाराओं से आलोड़ित होता हुआ भी जीवन की वास्तविकताओं से यह परे न था—इसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाना था। कालिदास ने रघुवंश के प्रथम अध्याय (५।८) में मनुष्य-जीवन के उद्देश्य का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। रघुकुल के राजा बचपन से पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। विद्या से उन्हें प्रेम था, निष्काम कर्म से उन्हें प्रीति थी—उनके दिग्विजय केवल प्रजाहित के लिये होते थे। धन का सञ्चय वे केवल दान के लिये करते थे। अपराधियों को यथायोग्य दंड देते थे, मिथ्यावचन के परिहारार्थ वे मितभाषी थे, विवाह केवल संतानोत्पत्ति के लिये करते थे, अपनी काम-वासना के तृप्त करने के लिये नहीं। अंत में वे सब कार्यों से अलग होकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करते हुए योग-साधन करते हुए इस लोक से विदा ले लेते थे। जिस काल में राजधर्म के उपर्युक्त उद्देश्य रहे हों उसमें प्रजा जीवन जिसकी झलक हमें कालिदास तथा बाण के ग्रंथों में मिलती है, कैसा रहा होगा, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। गुप्त सम्राट् शिव तथा विष्णु के उपासक थे लेकिन उनका हिंदू धर्म संकुचित नहीं था। बौद्ध तथा जैनियों का भी वे यथोचित सत्कार करते थे। गुप्त साम्राज्य के अंत हो जाने पर भी उस राज्य के प्रतीक-स्वरूप सांस्कृतिक धारा का वेग बहुत धीमा न पड़ा—अविरल गति से यह धारा बहती गई और इसकी समाप्ति तब हुई जब उत्तर भारत का साम्राज्य युग हर्षवर्धन के बाद ७वीं शताब्दी के बाद अंतर्हित हो गया। इसी तारतम्य को ध्यान में रखते हुए गुप्त-युग की संस्कृति के अध्यन के लिये हमें छठी और सातवीं शताब्दियों की ओर भी देख लेना आवश्यक है क्योंकि

इन दोनों शताब्दियों में हम उस संस्कृति का बिखरा हुआ रूप देखते हैं जिसकी नींव गुप्त काल में पड़ी। इस युग के हमारे पथ प्रदर्शक बाणभट्ट हैं जिनके अमर ग्रंथों में भारतीय जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं पर काफी प्रकाश डाला गया है। अगर हर्षचरित तथा कादंबरी को हम अलग कर दें तो गुप्तकालीन संस्कृति का इतिहास अधूरा ही रहेगा इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। गुप्तकालीन संस्कृति के प्रतीकों में केवल तत्कालीन शासन-व्यवस्था, प्रौढ़ धर्म-भावना अथवा कला के क्षेत्र में उन्नति ही नहीं हैं। गुप्त संस्कृति में बुद्धिजन्य विषयों को जितनी महत्ता दी गई उतनी ही लौकिक संस्कृति को। इस लौकिक संस्कृति का एक अंग वेष-भूषा भी है। आधुनिक काल में वेश तथा केश-विन्यास में रोज हेराफेरी एक ऐसी माप है जिसके द्वारा हम सभ्यता की गहराई को नाप सकते हैं। फ्रांस की सभ्यता का एक प्रधान अंग पेरिस के लिये कपड़े तथा प्रसाधन की वस्तुएँ हैं जो पच्छिमी दुनिया में अपना सानी नहीं रखतीं। अगर इस माप से भी हम गुप्तकालीन सभ्यता को तोलें तो वह किसी सभ्यता से कम नहीं रहती। क्या वस्त्र, क्या गहने, क्या स्त्रियों या पुरुषों का केश-विन्यास, इन सभी में गुप्त काल में एक विशेषता पाई जाती है। गुप्तों के पूर्व भी भारतीय वेष-भूषा काफी विकसित रूप में विद्यमान थी पर उसमें एक भारीपन था, एक बनावट थी। उदाहरणार्थ केश विन्यास ही को ले लीजिए, गुप्तों के पहले अधिकतर स्त्रियों के केश चोटियों के आकार में गूँथे जाते थे लेकिन गुप्त काल में केश-विन्यास एक कला की श्रेणी में गिना जाने लगा। अजंता के चित्रों में स्त्रियों की सैकड़ों तरह की चोटियाँ दिखलाई गई हैं जिनसे पता चलता है कि गुप्त काल की प्रसाधिकाएँ बाल सँवारने की कला में अतीव निपुण थीं। साड़ी भारतीय स्त्रियों के पहनावे की एक खास चीज है और इसे पहनना हम एक साधारण क्रिया समझते हैं। पर गुप्त-काल में साड़ी अनेक ढंगों से पहनी जाती थी जिनसे यह पता चलता है कि उस काल में स्त्रियाँ वस्त्र पहनने की कला से कितनी अवगत थीं। वस्त्र पहनने की कला का उस युग में इतना महत्व था कि अमरकोश में इस कला के लिये पाँच पर्यायवाची शब्द यथा आकल्प, वेष, नेपथ्य, प्रतिकर्म तथा प्रसाधन दिए हैं (२।६।९९)। कपड़ों में सुंदर बेल-बूटों की कल्पनाएँ भी गुप्तकाल की एक विशेषता है।

गुप्तकालीन सादे कपड़े

एक सभ्य समाज के लिये यह बात आवश्यक है कि उसके सदस्य अच्छे कपड़े और गहने पहनें। अच्छे कपड़े पहनने के लिये यह आवश्यकता होती है कि कारीगर नये नये रंगों के बेल-बूटेदार बिने हुए या छपे हुए वस्त्र बनावें। गुप्तकालीन समाज भी इस नियम का अपवाद नहीं था। इस बात का काफी प्रमाण है कि गुप्त-काल में अच्छे महीन वस्त्रों की बड़ी माँग थी। ऐसा मालूम होता है कि कपड़े पर छपाई की कला इस युग में अत्यन्त विकसित हुई। छपाई तथा बुनाई में चारखाना, डोरिया तथा हंस-पंक्तियों के अलंकार जैसा कि अजंता के चित्रों से विदित होता है बहुत व्यवहार में लाए जाते थे। छपाई तथा बुनाई के क्षेत्रों में उन्नति का पता अमरकोश से चलता है। तत्कालीन साहित्य में तथा चीनी यात्रियों के भारत-यात्रा-विवरणों से भी इस की पुष्टि होती है।

हुएनत्संग (ई० ६२९-६४५) भारतीय वस्त्रों का निम्नलिखित वर्णन करता है—

कौशेय—चीनी भाषा में इसे कियाओ-शे ये कहा है तथा इस वस्त्र को जंगली रेशम का बना कहा है (वाटर्स—ऑन युआन च्वांग ट्रावेल्स इन इंडिया, जि० १, पृ० १४८)। लेकिन कौशेय को जंगली रेशम कहना ठीक नहीं क्योंकि अमरकोश में इस शब्द का व्यवहार (अ० को० २।६।११) सब तरह के रेशमों के लिये हुआ है।

मलमल को हुएनत्संग ने तियेह, मोटे कपड़ों को पु, क्षौम (अर्थात् तीसी के पौधों के रेशों से बने कपड़ों को श्चुमो तथा ऊनी वस्त्र को कं-पो-लो (कंबल) तथा हो-ला-ली कहा है। ऊनी कपड़े बनाने के लिये भेड़ और बकरों के ऊन काम में लाए जाते थे तथा हो-ला-ली एक तरह के जंगली जानवर के रोएँ से बनाया जाता था। इस जानवर का ऊन बड़ा पतला होता था और बड़ी आसानी से काता जा सकता था। अच्छे कपड़े बनाने के लिये हो-ला-ली का व्यवहार होता था। (वही, पृ० १४८) वाटर्स के अनुसार हो-ला-ली संस्कृत के रल का रूपांतर है। हो न हो यह संस्कृत रल्लक (अ०

को० २।७।११६) का चीनी रूप है। अमरसिंह के अनुसार रल्लक एक विशेष प्रकार के ऊनी कपड़े का नाम है।

हुएनत्संग के समय सन के बने हुए (शणक) कपड़ों का व्यवहार भिक्षुवर्ग करता था। (वही, पृ० १२०)

अमरकोश में हमें गुप्तकालीन कपड़ों का कुछ वर्णन मिलता है—अमरसिंह ने कपड़ों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है—वल्क (छाल का बना हुआ), जिसके अंतर्गत क्षौम इत्यादि आ जाते हैं (२।६।१११), फाल (गूदे से बना हुआ) जिसके अंतर्गत कर्पास और बादर आ जाते हैं, कौशेय (रेशम के कीड़ों से बना हुआ) तथा रांकव (मृग के रोम से बना हुआ)।

इस प्रकरण के बाद नए कपड़ों का वर्णन आता है। करघे पर चढ़ने से लेकर कुंदी तक सब अवस्थाओं का इसमें वर्णन है। करघे से तुरत उतरे हुए कपड़े के लिये अनाहत (बिना कुंदी किया हुआ), निष्प्रवाणि (करघे से फौरन उतरा हुआ), तंत्रक तथा नवांबर शब्दों का प्रयोग हुआ है (अ० को० २।६।११२)। धुले हुए वस्त्र के जोड़े को उद्गमनीय कहा है।

रेशमी कपड़ों के वर्णन में एक भेद पत्रोर्ण आया है (२।६।११३)। शायद यह जंगली रेशम हो। क्षीरस्वामी ने अपनी टीका में इसे वट तथा लकुच के पत्ते खाकर जीनेवाले कीड़ों के रेशम को कहा है (अमरकोश, डा० हरदत्त द्वारा संपादित, पृ० १५७)। धुले तथा कीमती रेशमी वस्त्र को महाधन कहा गया है। (२।६।११३)

दुकूल को क्षौम का पर्यायवाची कहा गया है तथा इसी वस्त्र की बनी हुई चादर को निवीत या प्रावृत कहा है। लगता है, बाद में लोग सभी सफेद महीन वस्त्रों को दुकूल कहने लगे थे (देखिए—मल्लिनाथ की टीका, रघुवंश, १।६५)।

अमरकोश में कपड़े की लंबाई, चौड़ाई तथा छोरों के लिये भी बहुत से शब्द आये हैं। छोरों के लिये दशा और वस्ति का, लंबाई के लिए दैर्घ्य, आयाम तथा आरोह का तथा चौड़ाई के लिये परिणाह और विशालता आए हैं। (२।६।११४)

पहनते-पहनते फटे हुए कपड़ों के लिये भी कई शब्दों का व्यवहार हुआ है। पुराने कपड़ों के लिये पटच्चर और जीर्ण वस्त्र तथा फटे और गंदे कपड़ों के लिये नक्तक और कर्पट शब्द व्यवहार में लाए गए हैं (२।६।११५)

सादे कपड़ों के लिये निम्नलिखित छः शब्द दिए गए हैं— वस्त्र, आच्छादन, वासः, चैल, वसन तथा अंशुक (२।६।११५)। मूल्यवान् वस्त्रों के लिये सुचेलक तथा पट शब्दों का व्यवहार हुआ है तथा खद्दर के लिये वराशि तथा स्थूल शाटक (२।६।११६)। घटिया तथा कमकीमत बनारसी रेंजे के लिये बनारस में अब भी 'रासी माल' शब्द व्यवहार में लाया जाता है। शायद यह शब्द वराशि का अपभ्रंश रूप है।

चादरों में भी बहुत से भेद किए गए हैं। चाँदनी के लिये निचोल और प्रच्छदपट तथा बिछानेवाले कम्मल के लिये रल्लक और कंबल शब्दों का व्यवहार हुआ है (२।६।११६)।

चीनी यात्रियों के विवरण तथा गुप्तकालीन साहित्य से उन स्थानों का भी कुछ पता चलता है जहाँ अच्छे कपड़े बुने जाते थे। हुएनत्संग एक तरह की पतली सूती डोरिया का वर्णन करता है जो मथुरा में बुनी जाती थी (वाटर्स, वही, जि० १, पृ० ३०१) इस संबंध में हम पाठकों का ध्यान अजंता के चित्रों की ओर खींचना चाहते हैं। इन चित्रों में स्त्री-पुरुष दोनों ही डोरिये के बने कपड़े पहने हुए दिखलाए गए हैं। कुमार गुप्त के समय के मंदसोर-वाले लेख से यह पता चलता है कि लाट देश के बहुत से रेशमी बुनकर मंदसोर आ गए। इनमें से कुछ ने तो दूसरा कामकाज पकड़ लिया, लेकिन जो बच गए उन्होंने अपनी एक अलग श्रेणी बनाई तथा मालव संवत् ४९४ (ई० ४३७-३८) में एक सूर्य का मंदिर बनवाया जिसकी मरम्मत ई० सन् ४७३-७४ में हुई जब उपर्युक्त लेख खोदा गया (ई० ए० जि० १५, पृ० १९६)। इस लेख में पट्टवायों के अपने व्यवसाय के प्रति कुछ सुंदर हार्दिक उद्गार दिए गए हैं। रेशमी वस्त्रों की स्तुति में उनके ये शब्द चिरस्मरणीय रहेंगे—

तारुण्यकान्त्युपचितोपिसुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यं यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥

स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन ।
यैः सकल मिदं चितितल मलंकृतं पट्टवस्त्रेण । (वही, पृ० १९७)

उपर्युक्त अवतरण में रेशमी वस्त्रों (पट्टवस्त्र) के गुण, उनकी कोमलता (स्पर्शवत्ता) तथा सुंदर रँगाई (वर्णांतरविभागचित्रेण) का वर्णन है—

आज दिन की तरह गुप्तकाल में भी बंगाल रेशमी वस्त्रों के लिये प्रसिद्ध था। हर्षचरित में लेखक सुदृष्टि पौंड्र देश का बना हुआ धोती-दुपट्टा पहने हुए दिखलाया गया है। (हर्षचरित, अनु० कावेल, पृ० ७२)

आधुनिक आसाम की अंडी तथा मूँगा भारत में प्रसिद्ध हैं। गुप्त-काल में इस तरह के कपड़ों के सिवाय आसाम में कामदार वस्त्र भी बनते थे। जिन उपहारों को हंसवेग आसाम के राजा के यहाँ से हर्ष के दरबार में लाया था उनमें भूर्जपत्र की तरह चिकनी धोतियाँ (भूर्जत्वक्कोमलाः जाती-पट्टिकाः) तथा कोमल कामदार रेशम के थान थे (चित्रपटानां च म्रदीयसां)। (वही, पृ० २१४)

गुजरात तथा राजपुताने की चूँदरी अब भी प्रसिद्ध है। हर्षचरित में इस तरह के कपड़े का वर्णन है। (वही, पृ० २६१) चूँदरी को यहाँ पुलकबंध नाम से पुकारा गया है। मालती की लंबी कुर्ती इसी कपड़े की बनी थी। पुष्पपट्ट शायद गुप्तकाल में किमख्वाब ऐसे वस्त्र-विशेष का नाम रहा हो (वही, पृ० ८५)।

हिंदू समाज में विवाह के अवसर पर शान-शौकत दिखलाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से रही है। विवाह के शुभ अवसर पर वर तथा कन्या पक्ष की ओर से कीमती वस्त्रों का प्रदर्शन रीति-रवाज का एक अंग बन गया है। इस प्रदर्शन का हाल हम हर्षचरित में भी पाते हैं। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर हर्ष के राज्यप्रासाद में अनेक भाँति के कीमती कपड़े सजाए गए थे। इन कपड़ों में क्षौम, बादर (कपास), दुकूल, लालातंतुज तथा अंशुक और नेत्र प्रधान थे। (वही, पृ० १२५)

इस बात का ठीक ठीक पता नहीं चलता कि नेत्र किस तरह के कपड़े को कहते थे। कावेल के अनुसार यह कलाबत्तू मिश्रित रेशमी कपड़ा था। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी के अनुसार नेत्र बनाने के लिये सूत एक

खास तरह के पेड़ की छाल तथा जड़ से बनाया जाता था (अ० को० वही, पृ० ३१३) लालातंतुज शायद बहुत महीन रेशमी या सूती कपड़े को कहते हों।

पहनने के वस्त्र

इस बात में कुछ तथ्य नहीं है कि भारतीय केवल बिना सिले वस्त्र ही पहनते थे तथा स्त्रियाँ केवल साड़ी और पुरुष धोती दुपट्टा ही पहनकर कालक्षेप करते थे। गुप्त-युग के साहित्य और कला से इस बात की पुष्टि होती है कि भारतीय वेषभूषा सजावट तथा तरह-तरह की बनावट में संसार की तत्कालीन किसी सभ्यता से कम न थी।

हुएनत्संग के अनुसार साधारण जनता सिले वस्त्र नहीं पहनती थी। सफेद कपड़े पहनने की प्रथा थी। मनुष्य धोती कमर में लपेटकर उसका एक छोर बाएँ कंधे पर डाल देते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं तथा उनकी चादरें दोनों कंधों को ढकती हुई नीचे लटका करतीं थीं। हुएनत्संग ने भारतीय स्त्रियों के पहनावे के बारे में इतना कम कहा है कि यह कहना कठिन मालूम पड़ता है कि जिन वस्त्रों का उसने उल्लेख किया हैं वे साड़ी हैं या चादर या कुरती। उत्तरी भारत में जाड़े में तातारों के ढंग का एक लबादा पहना जाता था (वाटर्स, वही, जि० १, पृ० १४८)। संभव है यह वस्त्र आधुनिक बगलबंदी के आकार का कोई कोट रहा हो।

एक दूसरे चीनी यात्री इत्सिंग ने (ई० ६७१—६९५) भारतीय वेषभूषा का अच्छा वर्णन किया है। इत्सिंग ने मूलसर्वास्तिवादी बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्रों का निम्नलिखित वर्णन किया है। मूलसर्वास्तिवादी बौद्ध भिक्षुओं का दैनिक पहनावा संघाटी उत्तरासंग तथा अंतर्वास थे। इनके सिवाय निम्नलिखित ग्यारह वस्त्रों का भी वे व्यवहार कर सकते थे—(१) निषीदन या दरी, (२) निवसन, भीतर पहनने का कपड़ा, (३) प्रतिनिवसन, भीतर पहनने का एक दूसरा कपड़ा, (४) संकक्षिक बगल ढकने के लिये वस्त्र, (५) प्रति संकक्षिक, बगल ढकने के लिये एक दूसरा कपड़ा, (६) काय-प्रोंछन—तौलिया या गमछा, (७) मुख-प्रोंछन—मुँह पोंछने का तौलिया, (८)

प्रतिग्रह—हजामत के वक्त बाल इकट्ठा करने का कपड़ा, (९) कंडू-प्रतिच्छादन—खुजली ढकने का कपड़ा, (१०) भेषज-परिष्कार चीवर—औषधि छानने की साफी। (इत्सिंग, वही, पृ० ५४-५५) वस्त्रों की उपर्युक्त तालिका से यह पता चलता है कि भिक्षुओं के साधारण पहनने के वस्त्रों के सिवाय सफाई के लिये भी वस्त्रों का विधान था।

मामूली और कीमती

इस काल में भिक्षुगण रेशमी कपड़े पहनते थे। इत्सिंग रेशमी वस्त्रों के पहनने के पक्ष में था (वही, पृ० ५८), शायद इसका यह कारण रहा हो कि इत्सिंग चीन का रहनेवाला था जहाँ रेशमी कपड़ों का त्याग असंभव सा था।

बौद्ध-धर्म के चारों निकायों का भेद भिक्षुओं द्वारा भिन्न भिन्न तरीकों से निवसन पहनने से प्रकट होता था। मूलसर्वास्तिवादी भिक्षु निवसन के छोर कमरपेटी में खोंसते थे। महासंघिक भिक्षु निवसन के दाहने छोर को बाईं ओर ले जाकर कमरपेटी में खोंस लेते थे। स्थविर निकाय तथा सम्मिति निकाय के भिक्षु महासंघिक भिक्षुओं की भाँति ही निवसन पहनते थे; केवल भेद इतना होता था कि स्थविर निकाय तथा सम्मिति निकायवादी निवसन के छोरों को बाहर निकला रहने देते थे तथा महासंघिक भिक्षु उन्हें पेटी में खोंस लेते थे। चारों निकायों की कमरपेटियाँ भी भिन्न तरह की होती थीं। (वही, पृ० ६६-६७)

भिक्षुणियाँ भिक्षुओं की तरह संघाटी, उत्तरासंग, अंतरवास तथा संकक्षिका पहनती थीं। लेकिन उनका विशेष पहरावा लहँगा था जिसका संस्कृत नाम कुसूलक इत्सिंग ने दिया है। कपड़े के दोनों सिरों को सिलकर लहँगा बनता था। कपड़े की लंबाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती थी। लहँगा ढोढ़ी से चढ़ाकर पहना जाता था और यह घुटनों से चार अंगुल ऊपर तक पहुँचता था। कमर पर एक बंद से लहँगा पीछे बाँध दिया जाता था। (वही, पृ० ७८) साधारणतः भिक्षुणियाँ चोली नहीं पहनती थीं लेकिन युवावस्था में वे अपने स्तन ढक भी सकती थीं। (वही, पृ० ७८)

कपड़े रँगने के लिये रंग कंदों से तथा पीली बुकनी और गेरू से बनाए जाते थे। साधारण कपड़ों के लिये लाल मिट्टी तथा बैंगनी मिट्टी रंग का काम देती थी।

इत्सिंग के अनुसार उच्चपदस्थ राज्याधिकारी तथा उच्च वर्ण के लोग अक्सर धोती दुपट्टा पहनते थे। गरीब लोग प्रायः एक धोती पर ही गुजारा कर लेते थे। क्षौम की बनी धोती ८ फु० लंबी होती थी। (वही, पृ० ६७-६८)

कश्मीर से लेकर काशगर, तिब्बत तथा तातार देशों में चमड़ा तथा ऊन वस्त्र बनाने के काम में लाए जाते थे। सूती कपड़ों का व्यवहार तो यदाकदा ही होता था। इन देशों में सर्दी के कारण लोग कोट, पाजामा पहनते थे। (वही, पृ० ६८)

उन मुल्कों में जहाँ सरदी अधिक पड़ती थी सर्वसाधारण जनता और भिक्षु दोनों ही लि-प नाम का एक वस्त्र-विशेष पहनते थे। लि-प की व्युत्पत्ति संस्कृत रेफ या लेप से की जा सकती है। इस कपड़े की काट इस प्रकार थी—एक बिना पीठ के टुकड़े को इस प्रकार काटा जाता था कि एक कंधा खुला रहे। इसमें बाँहें नहीं होती थीं तथा कंधे पर इसकी चौड़ाई कम होती थी। यह कपड़ा दाहिने ओर बाँधा जाता था और इसमें काफी रूई भर दी जाती थी जिससे वह शरीर को गरमी पहुँचा सके (पृ० ६९)। इत्सिंग ने इस वस्त्र का व्यवहार पश्चिमी तथा उत्तरी भारत में देखा था। गरमी के कारण मालवा प्रदेश के भिक्षु इसका व्यवहार कम करते थे (वही, पृ० ६९-७०)

कुरता भारतीय पहनावे की एक खास चीज है। जिसे उत्तर भारत में गरीब अमीर सब पहनते हैं। लगता है, गुप्त-काल में इसका व्यवहार होने लगा था। लि-पेन नाम के एक चीनी कोषकार ने आठवीं शताब्दी में चीनी शान् अर्थात् कमीज के लिये संस्कृत कुरतु शब्द दिया है। भारतीय संस्कृत कोषों में इस शब्द का पता नहीं चलता। अब तक यह भी पता नहीं चला है कि कुरतु किस भाषा का शब्द है। (बागची, दी लेक्सिक संस्कृत शिनोआ, भा, २, पृ० ३५७)

कुछ भारतीय जिनमें साधारण जनता और भिक्षु दोनों शामिल थे आधे बाँह की कमीज पहनते थे। (वही, पृ० ७०) अमरकोश में सिले हुए वस्त्रों का विशेष वर्णन नहीं आया है। धोती के लिये अंतरीय, उपसंव्यान,

परिधान ,अधोंशुक ये चार शब्द आए हैं। (२।६।११७) दुपट्टे तथा चादर के लिये पाँच शब्द आए हैं—प्रावार, उत्तरासंग, बृहतिका, संव्यान तथा उत्तरीय (२।६।११७-१८)। यह कहना कठिन है कि ये पर्यायवाची शब्द किसी एक ही प्रकार के धोती दुपट्टों के नाम हैं या इनमें कोई भेद था। स्त्रियों की चोली के लिये दो शब्द आए हैं चोल और कूर्पासक (२।६।११८)। इन दो तरह की चोलियों की बनावट में क्या फर्क था यह भी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। शीत से बचने के लिये जो लबादा पहना जाता था उसे नीशार कहते थे (२।६।११८)। स्त्रियों के आधी जाँघ तक पहुँचनेवाले झबले को चण्डातक कहते थे (२।६। ११९)। आगे चलकर हमें मालूम होगा कि इस शब्द का व्यवहार बाण भट्ट ने स्त्री तथा पुरुष दोनों ही के एक वस्त्र-विशेष के लिये किया है। पैर तक लटकते हुए एक वस्त्र विशेष के लिये प्रपदीन शब्द व्यवहार में लाया गया है (२।६।१२९)। अजंताकी कला में बहुत से पुरुष पैर तक लटकता हुआ कुरता पहने हुए व्यक्त किए गए हैं। शायद प्रपदीन लंबे कुरतों का ही संस्कृत नाम हो।

गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य में विशेषकर बाण भट्ट तथा कालिदास के ग्रन्थों में बहुत से ऐसे स्थल आए हैं जिनमें तत्कालीन पहरावे पर काफी प्रकाश पड़ता है। स्त्रियाँ साड़ी के सिवाय चादर तथा वैकक्ष्य का भी व्यवहार करती थीं। सावित्री का वर्णन करते हुए बाण भट्ट ने लिखा है कि उसने शाल ओढ़कर दोनों छोरों की एक गाँठ स्तनों के बीच में लगा दी थी। (स्तनमध्य-गात्रिकाग्रंथिः, हर्षचरित, कावेल का अनुवाद, पृ० ६), इसके सिवाय उसके यज्ञोपवीत के ढंग से योगपट्ट का वैकक्षक बनाकर पहन रखा था (योगपट्टेन विरचित वैकक्षका)। मालती का वर्णन करते हुए बाणभट्ट लिखते हैं कि वह पैर तक लटकती हुई रेशम की धुली हुई कुर्ती पहने थी (धौतधवल नेत्रनिर्मितेन···कञ्चुकेन तिरोहिततनुलता, वही, पृ० २६१), उस कुर्ती के नीचे उसने आधे जाँघ तक लटकती एक केसरिया रंगवाली चूँदरी की कुर्ती पहन रखी थी (कृत कुसुंभराग पाटलं पुलकबंधचित्रं चंडातकमन्तःस्फुटः, वही, पृ० २६१) स्थानेश्वर की स्त्रियाँ चोली पहनती थीं (वही पृ० ८३)। स्त्रियाँ कभी कभी ऐसी मलमली साड़ियाँ पहनती थीं जिन पर नाना प्रकार के फूल

और चिड़ियों के नकशे बने होते थे (बहुविध कुसुमशकुनिशतशोभितात्पवन-चलिततनुतरङ्गादतिस्वच्छादंशुकात्, वही, पृ० १६)। आजकल की तरह ही मौसिम के अनुसार वस्त्र बदलने की इच्छा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होती थी। गर्मी में एक हलकी दुकूल की साड़ी उनके पृष्ठभाग को ढके रहती थी (ऋतुसंहार, १।४)। वसंत में वे कुसुंभी रंग की साड़ी तथा लाल रंग का स्तन पट्ट काम में लाती थीं (कुसुंभरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनां, रक्तांशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमंडलानि, वही, ६।४)।

यह जानने योग्य है कि राजाओं का पहिरावा विशेष चटक-मटकवाला नहीं होता था। हर्षचरित में हर्ष को धुली हुई रेशमी धोती (विमलपयोधौतेन नेत्रसूत्रनिवेशशोभिनाधरवाससा वही, पृ० ५९) तथा काम का बुंदकीदार दुपट्टा (सतारागणेनोपरिकृतेन द्वितीयाम्बरेण) पहने हुए बतलाया गया है। सफेद धोती पर बहुधा हंस का चित्र बना रहता था (कादंबरी, पू० सं० काले पृ० १९, अमृतफेनधवले गोरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते चारुचामर-प्रनर्तितदशे)। लड़ाई में जाने के समय हर्ष के दूकूल का धोती दुपट्टा जिस पर हंस-मिथुन के चित्र बने थे पहनने का उल्लेख है (हर्षचरित्र, पृ० १९८, परिधाय राजहंसमिथुनलक्ष्मणी सदृशेदुकूले)। अच्छी श्रेणी के मनुष्यों को सुगंधित द्रव्यों तथा फूलों का शौक था। इनके धोती पहनने के ढंग का बाण ने अच्छा वर्णन किया है। एक युवक का वर्णन करते हुए बाण ने कहा है वह एक हरे रंग की कमर से चपकी धोती पहने था जिसका एक छोर ढोढ़ी के नीचे खुँसा हुआ था, चूँदन कमरबंद के पीछे थी। धोती इतनी ऊँची थी कि जंघों का तिहाई भाग खुला था (पुरस्तादीषदधोनाभिनिहितैककोणकमनीयेन पृष्ठतः कक्ष्याधिकक्षिप्तपल्लवेनोभयतः संवलनप्रकटितोरुत्रिभागेन हारीतहरिता निबिडनिपीडितेनाधरवाससा विभज्यमानतनुतरमध्यभागम्, वही, पृ० १७-१८)।

बाणभट्ट ने समकालीन अश्वारोहियों तथा पदातियों का भी अच्छा वर्णन किया है। पदाति कुर्ते पहनते थे, और सिर पर दुपट्टे की पगड़ी बाँधते थे। (पिनद्धकृष्णागुरुपङ्कवल्कच्छुरणकृष्णशबलकशायकञ्चुकेन, उत्तरीयकृत-

शिरोवेष्टनेन) तथा उनके कमरबंद दोहरे कपड़े के होते थे जिनमें कटार खुँसे हुए रहते थे (द्विगुणपट्टपट्टिकागाढग्रन्थिग्रथितासिधेनुना, वही, पृ० १६)। अश्वारोही सफेद पगड़ी तथा वारबाण धारण करते थे (धवलवारबाण-धारिणम्, धौतदुकूलपट्टिकापरिवेष्टितमौलिम् पृ० १९)। कभी कभी सिपाही व्याघ्रचर्म के समान चितकबरे कंचुक तथा अनेक रंग-बिरंगी पट्टियों से बनी पगड़ियाँ पहनते थे (जरद्व्याघ्रचर्मशबलवसनकञ्चुकधारिभिरनेकपट्टचीरको-द्बद्धमौलिभिः, कादंबरी, पृ० १६१)। हर्ष के साथी जागीरदार जो उसके साथ युद्ध में जाने को प्रस्तुत थे वे पाजामा पहने थे। उनके कंचुक लाज-वर्दी रंग के थे (अवदातदेहविराजमानराजावर्तकमेचकैः कञ्चुकैः)। कुरते के ऊपर उन्होंने चीन चोलक—जो शायद मुगलकालीन पेशवाज या अबा के ढंग का कोई वस्त्र रहा हो—पहन रखा था (उपचितचीनचोलकैश्च)। उनमें से कुछ लंबे चुगे तथा वारबाण पहने हुए थे (तारमुक्तास्तवकितस्तवरक वारबाणैश्च)। कोई कोई कूर्पासक नाम का वस्त्र पहने था तथा उसके ऊपर सुग्गे के रंग का शाल ओढ़े था (नानाकषायकर्बुरकूर्पासकैः शुकपिच्छच्छाया-च्छादनकैश्च, वही, पृ० २०२)। उन्होंने साफे भी बाँध रखे थे जिनमें कान पर लटकते हुए कमलों की नालें खुँसी हुई थीं (उष्णीषपट्टावष्टब्ध कर्णोत्पलनालैश्च)। उनके शिर केसरिया दुपट्टों से ढके हुए थे (कुंकुमराग-कोमलोत्तरीयान्तरितोत्तमाङ्गैश्च, वही पृ० २०२)

ऊपर जिन वस्त्रों के वर्णन आए हैं उनमें से कुछ तो पहचान में आते हैं और कुछ नहीं। कंचुक और वारबाण अमरकोश के अनुसार जिरह बख्तर के नाम हैं (२।८।६४), लेकिन ऊपर के विवरण से यह पता चलता है कि कंचुक कपड़े का बना एक वस्त्र विशेष था क्योंकि एक जगह इसे चितकबरे कपड़े या बाघंबर का तथा दूसरी जगह इसे लाजवर्दी रंग के कपड़े का बना बतलाया गया है। वारबाण लोहे का बनता था या कपड़े का, इसका कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः वह रूई भरा हुआ मध्यकालीन चिल्हे की तरह का कोई वस्त्र रहा होगा जिसका व्यवहार पैने शस्त्रों से शरीर की रक्षा के लिये होता था। चीन चोलक के बारे में भी कुछ विशेष पता नहीं चलता। संभवतः वह आगे से खुला हुआ पूरी बाँहोंवाला लंबा कोट है जो मध्य एशियावालों का खास

पहरावा है। स्तवरक किस तरह का वस्त्र था इसका पता नहीं चलता। कूर्पासक अमरकोष में (२।६।११८) चोली का द्योतक है। शायद आधुनिक मिर्जई के आकार का यह वस्त्र रहा हो।

बाण के ग्रंथों में बहुत से ऐसे स्थल आए हैं जिनमें राजकर्मचारियों तथा साधुओं इत्यादि की वेषभूषा का वर्णन है। बाण के वर्णन में कुछ ऐसी विशेषता है कि हमारे सामने साधारण पुरुषों की वेषभूषा भी जीती जागती सी खड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ हर्ष के भ्राता कृष्ण ने जिस दूत को बाण के पास भेजा था उसी की वेषभूषा लीजिए—उसका कुरता कमरबंद से बँधा था तथा पीछे लटकते हुए बाल एक धूल से सने हुए कपड़े से बँधे थे (कार्दमिकचेलचीरिकानियमितोच्चण्डचण्डातकं, पृष्ठप्रेङ्खत्पटच्चरकर्पटघटितगलितग्रंथिं, वही, पृ० ४१)। ऐसा पता लगता है कि महाप्रतिहारी तथा प्रतिहारी सफेद कुर्ते पहनते थे (धौतकञ्चुकच्छन्नवपुषा, वही, पृ० ४९, सितकञ्चुकावच्छन्नवपुषा, कादंबरी, पृ० ३५) तथा कमरबंद बाँधते थे (हर्षचरित, पृ० ४९, ।) अब भैरवाचार्य की वेषभूषा को लीजिए। उस वेष-भूषा की आधुनिक संन्यासियों की वेष-भूषा से तुलना की जावे तो पता लगता है कि बाणभट्ट की दृष्टि थोड़ी थोड़ी सी बातों का अन्वीक्षण कितनी सचाई से करती थी। भैरवाचार्य का एक गेरुए रंग का दुपट्टा तिरछे ढंग से छाती पर होता हुआ एक कंधे से लटक रहा था (धातुरसारुणेन कर्पटेन कृतोत्तराङ्गं)। उनकी फटी गेरुआ चादर की दोनों छोरों की गाँठ छाती पर बँधी थीं (वही, पृ० ८६)। इन्हीं भैरवाचार्य की वेषभूषा का वर्णन एक दूसरी जगह ऐसा दिया है। वे एक कंबल ओढ़े हुए थे (कृष्णकंबलप्रावरण), उनका कौपीन क्षौम से बना था (पाण्डरपवित्रक्षौमाघृतकौपीनम् , वही, पृ० २६४) तथा पर्यङ्क मुद्रा में स्थित उनके शरीर के चारों ओर एक अत्यंत शुभ्र योग पट्ट बँधा हुआ था (सावष्टम्भपर्यङ्कबंधमण्डलितेनामृतफेनश्वेतरुचायोगपट्टकेन, वही, पृ० २६५)। उनके पैरों में पादुकाएँ थीं (वही, पृ० २६५)।

एक आश्चर्य की बात है कि अजंता के चित्रों में पगड़ी या साफा ऐसा कोई वस्त्र नहीं देख पड़ता। इसके विपरीत इस काल के साहित्य में साफे का काफी वर्णन आता है। मलमली साफे की तहों का एक जगह उल्लेख है

(-अंशुकोष्णीषपट्टिकानिब, वही, पृ० १४)। एक जगह बड़े साफों का वर्णन है जिससे पता चलता है कि साफे के दोनों छोर आगे लाकर उनमें गाँठ लगा दी जाती थी (उष्णीषपट्टकांझलाटमध्यघटितविकटस्वस्तिकाग्रंथीन्, वही, पृ० ९१-९२)। गुप्तकालीन सिक्कों पर भी राजा लोग पगड़ी पहने हुए अंकित किए गए हैं। हो सकता है अजंता के आस पास दक्षिण में साफा पहनने की गुप्त कालमें प्रथा न रही हो।

सभा और हिंदी भाषा

(अर्ध-शताब्दी के उपलक्ष्य में)

काशी नागरीप्रचारिणी सभा सारे हिंदी-जगत् की चिंतामणि है। सभा के द्वारा हिंदी संसार का सहस्रमुखी चिंतन भासित होता है। सभा की स्थापना किन्हीं पुण्यात्माओं ने बड़े शुभ मुहूर्त में की थी। आज अर्धशताब्दी व्यतीत होने पर सभा-रूपी महान् वटवृक्ष का जो रूप विकसित हुआ है उसे देखकर आशा होती है कि भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का कल्याणमय कार्य सभा के द्वारा संपन्न हो सकता है। सभा उत्तरापथ के ज्ञान की प्रतिनिधि संस्था बन सकती है क्योंकि सभा के कार्य का माध्यम एक नई विलक्षणशक्ति है। समस्त भारतीय जनता को आंदोलित करनेवाली इस विराट्शक्ति का नाम हिंदी भाषा है।

इस युग में भारतवासी होकर जो हिंदी नहीं जानता वह अर्ध शिक्षित है। वह जनता के हृदय के साथ कभी संपर्क में आ सकेगा, इसमें संदेह है। हिंदी की यह वर्धमान शक्ति, उसके साहित्य का लोक में ओजायमान प्रवाह किसी व्यक्ति-विशेष की कृपा या शुभ संकल्पों पर निर्भर नहीं है। यह लोक की अपनी आवश्यकता है। लोक इस समय जागरण की खोज में है, इसलिये हिंदी भाषा भी जाग उठी है। हिंदी जगत् की जाग भारतीय जनता की सबसे बड़ी आशा कही जा सकती है। जाग्रत् साहित्य ही उठते हुए लोक का सच्चा चक्षु होता है। वही उसका सखा और उपदेष्टा है। अनुरूप साहित्य को पाकर जनता धन्य होती है। साहित्य की समृद्धि समस्त जन का आनंदोत्सव है। जनता में जब नवीन किलकारी की वाणी उठती है, उसकी ध्वनि साहित्य में सुनाई पड़ती है। साहित्य और जनता, दोनों का मंगल संबंध एक साथ है। जो साहित्य लोक के लिये नहीं वह निरर्थक है। जब साहित्य का लोक से संबंध टूट जाता है, वह जीवन-रस के छीजने पर सूखे हुए पत्ते की तरह मुरझाकर गिर जाता है। जब लोक नई चेतना से

प्रबुद्ध होता है, तब उसकी भाषा साहित्य के रूप में नया शरीर धारण करती है। लोक सहस्र नेत्रों से अपने चारों ओर के जीवन को देखना और जानना चाहता है, इसलिये साहित्य की पैनी आँख में देखने की नई-नई किरणें उत्पन्न होती हैं। जनता के उद्बोधन का जब वसंतकाल आता है तब साहित्य का महान् वटवृक्ष अपनी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तृत वितान से भुवन को घेर लेता है। जनता के ज्ञान का एक-एक छंद साहित्यरूपी वृक्ष का एक-एक पत्ता है। जनता का मानस हरा है तो साहित्य में भी हरियाली देखने को मिलती है। लोक के मानस तक पहुँचने का साधन साहित्य है। साहित्य की गंगा में स्नान करके लोक का मानस पुण्यवान् और संकल्पवान् बनता है। उस साहित्य-सेवी का जीवन धन्य है जो लोक को वाणी प्रदान करता है, जो जनता के मानस में आलोक का कोई नया दीपक जलाता है, जो ज्ञान के अप्रकाशित क्षेत्र में नई किरणों का प्रवेश कराता है। लोक का मन हजार तरह से संस्कार चाहता है। उसे प्रदान करने की शक्ति साहित्य में है।

साहित्य की इस दुर्धर्ष शक्तिमत्ता को हिंदी जनता आज सिर माथे पर रखती है। सारा हिंदी-भाषी जगत् एकटक लौ लगाए है कि हिंदी साहित्य उसका मार्गदर्शक बने। जीवन में जहाँ-जहाँ सुंदरता, प्राण और चैतन्य है उसका परिचय साहित्य के द्वारा मिलना चाहिए। तभी नवीन प्राण, सुंदरता और चैतन्य का जन्म हो सकता है। भारतीय जीवन में, भारतीय चरित्र और संस्कृति में क्या मूल्यवान् है, क्या श्रीसंपन्न है, क्या दैवी गुणों से युक्त है, किसमें निर्माण की शक्ति छिपी है,- इसको प्रकाशित करना साहित्य-सेवी का कर्तव्य है। भारतीय साहित्य, शब्दशास्त्र, नाट्य, कला, राजशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाज, संस्थाएँ, धर्म, दर्शन, अध्यात्म इनमें कितना सुंदर और लोकोपयोगी तत्त्व है—इसका उद्घाटन हिंदी साहित्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है। सौंदर्य और प्राण के सम्मिलन से जीवन का निर्माण होता है। अतएव संसार में जहाँ भी ये दो तत्त्व उपलब्ध हों, उनका हिंदी में आवाहन हिंदी-साहित्य का आवश्यक कार्य है। हिंदी जनता के लिये हिंदी का साहित्य विश्व का साहित्य है। विश्व से अपनी बात कहने के

लिये और विश्व की बात सुनने के लिये हिंदी-भाषी जनता का माध्यम हिंदी के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

इस दृष्टिकोण से जब हम हिंदी साहित्य के विशाल क्षेत्र का ध्यान करते हैं, तब ऐसा ज्ञात होने लगता है कि नागरीप्रचारिणी सभा के उदार भवन में हिंदी-जगत् ने अपने ज्ञान की चिंतामणि कहीं प्रतिष्ठित कर दी है। सुनते हैं विष्णु के मुकुट में एक भास्वर मणि है जिसमें विश्व के चिंतन का प्रतिबिंब पड़ता है। इसी प्रकार सभा-भवन में प्रतिष्ठापित ज्ञान की सहस्रांशु चिंतामणि में आज हिंदी जनता का मानस प्रतिबिंबित है। सभा का उत्तरदायित्व महान् है। जिस प्रकार विष्णु की दैवी चिंतामणि क्षुद्र संकल्पों से कभी कलुषित नहीं होती उसी प्रकार सभा की मानसमणि भी शिव संकल्पों से और विजयी विचारों से सदा प्रतिफलित होती रहनी चाहिए। कभी-कभी प्रतीत होता है कि हिंदी जगत् के प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं अपने शुभ्र शरीर और समस्त भाव-संशुद्धि से हिंदी साहित्य की इस मानसमणि को लिए हुए सभाभवन में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः गोसाईंजी की एक शुभ्र कायपरिमाण मर्मर-प्रतिमा से सभा का द्वारालिंद अलंकृत होना चाहिए।

सभा की शक्ति का संवर्धन हिंदी जगत् का उतना ही आवश्यक कार्य है जितना आत्मसंरक्षण के लिये दुर्ग निर्माण। अतएव सभा की कार्य-शक्ति का अपरिमित विकास होना चाहिए। साहित्य-निर्माण और ग्रंथ-प्रकाशन— ये ही सभा के हाथ-पैर हैं। इनकी दृढ़ता का संपादन सब उपायों से होना उचित है। इन दोनों कार्यों को एक नियत विधि से पूरा करना आवश्यक है। उसके लिये आगामी बीस वर्षों की कार्य-परंपरा पर विचार करके कार्य में प्रवृत्त होना सभा और हिंदी जगत् दोनों के लिये हितावह होगा।

(संपादकीय)